विषय-सूची

शुद्धि पत्र—श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपायः

अङ्क नं० १३+१४

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१८	२६	छोडना नही	छोडा जाता नही क्योकि भूमिकानुसार व्यवहार आये विना रहता नही।
४४	२३	जीवतत्त्व	असली मूल जीवतत्त्व।
६८	१२	निदेश	निर्देश
७६	१५	तो अपने	तो क्रमश -स्वसन्मुखज्ञातापने मे स्थिरता–धैर्य वढ़ाकर अपने
६६	२२	श्रावक	श्रावक सकल्पी।
१२३	१६	उदय से	उदय का अनुसरण करने से
१२७	६	का मूर्च्छापूर्वक	और मूर्च्छा का
१३५	१	उदय से	उदय का अनुसरण करने से
१३६	८-६	निमित्त से (लक्ष से)	निमित्त के आश्रय करने से
१६७	२२	निप्कटता	निप्कपटता
१६८	२०-२१	[अहो ! मुनिमहाराज के कारण आज दस रुपये खर्च हो गये।]	×Cancelled
१७८	१४	इसलिये इस से	इस मे स्वाश्रय के वल द्वारा
१७६	६	इनके द्वारा	इस मे स्वसन्मुखता के वल द्वारा।
१८८	५	तपो को	वीतराग भाव रूप तपो को
१८८	८	तपों	वीतराग भाव रूप तपो
१६३	२५	क्रर	क्रूर
२०५	३	थर्म	धर्म
२३३	२२ से २७ तक	वतलाइये तो सही........से लेकर अन्त तक...... ......निकाल दें।	×Cancelled
२३४	१	तो विकल्प मे ही जाता है	×Cancelled
२३६	३	अनुजीवी	×

२३७	११	अर्थात्	अर्थात्
२३७	१६	भर था	भरा है
२३७	१७	और वचा	और प्रगट करने को वचा
२४०	७	इतना पाठ और वढावे [वास्तव में तो वीतराग भाव (शुद्ध भाव) और अपना त्रैकालिक चैतन्य स्वभाव ही कारण है]।	
२४०	१२	प्रतिजीवी धर्म	प्रतिजीवी गुण

२३१ सूत्र २२२ के भावार्थ मे इतनी वात और वढावें —

यह शुभ राग रूप व्यवहार निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान विना व्यवहार (उपचार) रत्नत्रय नाम न पाकर 'व्यवहाराभास' कहने मे आता है।

ज्ञानी भेदरूप, पराश्रयरूप किसी भी व्यवहार का अवलम्वन लेना चाहता नही, मुख्य चैतन्य सामान्य स्वभाव का अवलम्वन लेकर स्थिर होना ही चाहता है—किन्तु मन्द प्रयत्न के समय—वीच मे वलपूर्वक व्यवहार का अवलम्वन (आश्रय) आ जाता है। अत व्यवहार मोक्षमार्ग वह सच्चा सावन न मानकर—इस को उपचार रत्नत्रय कहा है।

प्रश्न —सूत्र मे उसे सहचर हेतु क्यो कहा है ?

उत्तर—अन्यमत श्वेताम्वरादि मानते है कि मोक्षमार्ग मे चाहे जैसा—कैसा भी व्यवहार हो—देश काल वश कैसा भी लिंग-भेस-व्रतादि हो—तो वैसा कभी नही होता किन्तु जैसा सर्वज्ञ के आगम मे कहा है—ठीक वैसा ही निमित्त नैमित्तिक सवन्ध रूप व्यवहार भूमिकानुसार होता है। उस मे कोई अपवाद नही है—ऐसा अविनाभाव नियम जानकर व्यवहार रत्नत्रय को सावन तथा सहचर हेतु कहा है।

प्रश्न—वह उपचार रत्नत्रय सराग भाव होने से वाधक ही तो है—उसे साधक (सावन) क्यो कहा जाय ?

उत्तर—वीतराग भाव का तो वह वाधक ही है किन्तु चौथे पाँचवे छठे आदि गुणस्थानो में जिस जाति का जितना रागाश रहता है—वह उस भूमिका का वाधक नही होने से उपचार से साधक (सावन) कहा गया है।

॥ श्रीमद्गुरुदेवाय नमः ॥

श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपायः (मोक्षमार्गः)

मोक्षमार्गप्रकाशिका टीका सहित

मङ्गलाचरण

परम पुरुष निज अर्थ को, साध भये गुणवृन्द ।
आनन्दामृतचन्द्रको, वन्दत हू सुखकन्द ॥१॥

मङ्गलाचरण (देव)

तज्जयति परं ज्योति समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥१॥

अन्वय—तत् परं ज्योतिः जयति यत्र दर्पणतले इव सकला पदार्थमालिका समस्तैः अनन्तपर्यायैः समं प्रतिफलति ।

सूत्रार्थ—वह उत्कृष्ट ज्योति (प्रकाश-केवलज्ञान) जयवन्त है जिसमे दर्पण के ऊपर के भाग की तरह सम्पूर्ण पदार्थों का समूह अपनी समस्त (भूत भविष्यत् वर्तमान त्रिकाल सम्बन्धी) अनन्त पर्यायों सहित झलकता है ।

भावार्थ—जगत् छह द्रव्यों का समूह है । प्रत्येक द्रव्य मे अनन्त गुण हैं तथा प्रत्येक गुण की अनादि अनन्त समय २ की भिन्न २ पर्याय हैं । यह सब ज्ञेय है । तथा आत्मा मे एक ज्ञान गुण है । केवलज्ञान उसकी स्वभाव पर्याय है । उस पर्याय मे अमर्यादित जानने की शक्ति है । द्रव्य गुण पर्याय मे प्रमेयत्व स्वभाव होने के कारण तथा पर्याय का स्वभाव भी क्रमबद्ध परिणत होने के कारण, वे अपने स्वरूप को एक समय मे युगपत ज्ञान को सौंप देते हैं और ज्ञान मे जानने का स्वतः सिद्ध स्वभाव होने के कारण वह उनके स्वरूप को ग्रहण कर लेता है । ऐसा ही वस्तु स्वभाव है । ऐसा आत्मा का स्वभाव जहाँ पूर्ण प्रकट हो गया

है ऐसे अरहन्त सिद्धो को आचार्य देव ने मङ्गल मे स्मरण किया है। साथ ही इसमे पदार्थों के क्रमवद्ध परिणमन स्वभाव का भी निर्णय हो जाता है। आत्मा के सर्वज्ञ स्वभाव का भी निर्णय हो जाता है। आत्मा मे प्रमाण और प्रमेय दो गुण हैं तथा अन्य द्रव्यों मे केवल प्रमेय गुण है इसका भी निर्णय हो जाता है। आत्मा का स्वभाव अनन्त ज्ञान है, राग द्वेष मोह या सुख दुःख नहीं इसका भी निर्णय हो जाता है। देव सर्वज्ञ ही होता है। तीन लोक और तीन काल का ज्ञाता ही होता है ऐसा भी निर्णय हो जाता है। पदार्थ क्रमवद्ध ही परिणमन करते हैं और ज्ञान उनके त्रिकाल के परिणमन को एक ही समय मे जान लेता है ये सब सिद्धान्त मुमुक्षु को उपर्युक्त एक सूत्र से निर्णय कर लेने चाहियें और इसी प्रकार पदार्थ की श्रद्धा करनी चाहिये।

मगलाचरण (शास्त्र)

परमागमस्य जीव निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसिताना विरोधमथन नमाम्यनेकान्तम् ॥२॥

अन्वय —परमागमस्य जीव[1], निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधान[2], सकलनयविलसिताना विरोधमथन[3], अनेकान्त नमामि।

सूत्रार्थ— मैं उस अनेकान्त को (एक पक्ष रहित स्याद्वाद रूप श्रुत ज्ञान को) नमस्कार करता हू कि जो परमागम का जीवन है[1], तथा जिसने जन्म परम्परा से अन्धे पुरुषों के (अन्य एकान्त मतियों के) हस्ती (हाथी) विधान को (भिन्न २ एकान्त मान्यताओं को) खण्डन कर दिया है[2], तथा जिसने समस्त नयों द्वारा प्रकाशित जो वस्तु का स्वभाव-उनके विरोध को[3], नष्ट कर दिया है।

भावार्थ—इस सूत्र द्वारा आचार्यदेव ने प्रमाणभूत उस अनेकान्तात्मक श्रुतज्ञान* को नमस्कार किया है कि जो ज्ञान केवलज्ञान का

---

* यहा आचार्य श्रीअमृतचन्द्र जी के पेट की वात यह है कि वे इस सूत्र द्वारा श्रीगणधर देव के प्रमाणभूत द्वादशाङ्ग के अनेकान्त श्रुतज्ञान को नमस्कार करना चाहते हैं। गौणतया यह श्रुतज्ञान के स्वरूप का निरूपण तो है ही और निमित्त की अपेक्षा जिनवाणी का निरूपण भी है।

छोटा भाई है उसकी महिमा प्रकट करते हुवे आचार्यदेव ने तीन विशेष दिये हैं जिसका खुलासा इस प्रकार है.-- 16 10 77

(१) इस सूत्र का मर्म ठीक रूप से तो उन जीवो को ख्याल मे आयेगा कि जिनको श्रीपचाध्यायी की दूसरी पुस्तक का ज्ञान होगा। उसमे समझाया है कि जगत् का प्रत्येक सत् अनेकान्त रूप है। अस्ति-नास्ति, तत्-अतत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, इन चार युगलों से गुम्फित है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि जब पदार्थ ही स्वतः सिद्ध अनेकांत (अनेक धर्म रूप) है तो उस को जानने वाला वही ज्ञान प्रमाण कोटि मे आ सकता है कि जो अनेकान्त को (अनेक धर्मों को) अनेकान्त रूप ही जाने। अत प्रमाण ज्ञान का अनेकान्तपना तो जीवन है, प्राण है। इसके बिना वह ज्ञान मिथ्या है। एक कौडी का भी नहीं है क्योंकि उसने पदार्थ को विपरीत पकडा है। एकान्त रूप पकडा है।

(२) दूसरा विशेषण 'नास्तिरूप' है। अन्यमतियों के खण्डन करने वाला है। जिस प्रकार जन्म के अन्धे हाथी के एक २ अङ्ग को ही स्पर्श कर उसे सम्पूर्ण हाथी समझते है उसी प्रकार अन्य मत जन्म से (उत्पत्ति से) ही अन्धे है। वे वस्तु अनेकान्त रूप होते हुवे भी एक रूप ही मानते है। कोई अस्ति (सामान्य) रूप ही मानता है तो कोई नास्ति (विशेष) रूप ही मानता है। कोई कूटस्थ नित्य मानता है। तो कोई क्षणिक अनित्य मानता है। कोई सदा वही की वही मानता है तो कोई प्रत्येक समय में नई वस्तु का (असत् का) उत्पाद मानता है। कोई सर्वथा एक (अभेद) रूप मानकर द्रव्य गुण पर्याय के भेदों को नाश करता है तो कोई सर्वथा भेद रूप मानकर स्वत सिद्ध अखण्ड वस्तु को खण्ड २ करता है। ऐसे मूर्खों को इसी आचार्यदेव ने श्रीसमयसार जी में पशु कहा है क्योंकि वे विवेकहीन है। अत आचार्यदेव ने इस सूत्र में उनके एकान्त श्रुतज्ञान को अप्रमाणिक कह कर प्रमाण कोटि से निकाल दिया है।

(३) तीसरा विशेषण 'अस्ति रूप' है। जैनधर्म के अनुसार सच्चे वस्तु स्वरूप का प्रकाशक है। इसमे यह बताया है कि द्रव्य दृष्टि से देखो तो वस्तु 'मात्र सत्-सत्-सत्' रूप ही प्रतीत होगी किन्तु उसी वस्तु को यदि पर्याय दृष्टि से देखो तो कोई जीव रूप है तो कोई पुद्गलरूप है। कोई धर्मरूप है तो कोई अधर्म रूप है। कोई काल रूप है तो कोई आकाश रूप है। इस प्रकार यद्यपि ये दोनों नय सच्चे हैं। अपने २ स्वरूप से वस्तु पर प्रकाश डाल रहे हैं पर फिर भी स्थूल दृष्टि से इनमें परस्पर विरोध दीखता है क्योंकि सत् दृष्टि से सारा जगत् अद्वितीय एक अखण्ड दृष्टिगत होता है किन्तु दूसरी से प्रत्येक पदार्थ भिन्न २ दीखता है। दोनों नय वस्तु के स्वरूप पर बराबर प्रकाश डाल रहे हैं और पूर्णतया सच्चे हैं। इनके इस स्थूल दृष्टि से दीखने वाले इस विरोध को 'अनेकान्त ज्ञान' मिटा देता है, वह कहता है कि सत् द्रव्य दृष्टि से सत् ही है और पर्याय दृष्टि से प्रत्येक सत् भिन्न २ है। वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। (B) इसी प्रकार गुण दृष्टि वस्तु को नित्य बताती है किन्तु पर्याय दृष्टि वस्तु को अनित्य बताती है। प्रमाण ज्ञान वस्तु को 'गुणपर्यायवद् द्रव्य' ऐसा जानकर उनके विरोध को मिटा देता है। (C) तत् दृष्टि से जो यहाँ मरता है वही स्वर्ग मे जन्म लेता है। वह पूर्ण सत्य है किन्तु अतत् दृष्टि से वह मनुष्य था अब देव है यह भी पूर्ण सत्य है—दूसरा ही है। इन प्रकार इनमे विरोध है। अनेकान्त वस्तु को तत्-अतत् स्वभाव वाली बता कर इनके विरोध को मेटता है। (D) एक नय अखण्ड वस्तु की स्थापना करके द्रव्य गुण पर्याय के भेद को इनकार करता है किन्तु अनेकनय द्रव्य गुण पर्यायों का भिन्न २ लक्षण बतलाकर वस्तु को भेदरूप ही स्थापित करता है। इस प्रकार इनमे विरोध दीखते हुये भी प्रमाण ज्ञान उसे 'एकानेक' रूप कहकर इस विरोध को मिटा देता है।

इसी प्रकार जो केवल यह मानता है कि उपादान कुछ नहीं करता। केवल निमित्त ही उसे परिणमाता है वह भी एक धर्म को मानने वाला एकान्ती है अथवा जो यह मानता है कि निमित्तकी उपस्थिति ही नहीं होती या

निमित्त की क्या आवश्यकता है वह भी एक धर्म का लोप करने वाला एकान्ती है। जो यह मानता है कि परिणमन तो सब निरपेक्ष अपना २ अपने चतुष्टय मे स्वकाल की योग्यता से करते हैं किन्तु जहाँ आत्मा हीन दशा मे या विपरीत दशा मे परिणमता है वहाँ योग्य निमित्त का उदय रहता ही है तथा जहाँ आत्मा पूर्ण स्वभाव रूप परिणमता है वहाँ निमित्त क्षय रूप ही है। वह दोनों धर्मों को मानने वाला अनेकान्ती है।

इसी प्रकार जो निश्चय रत्नत्रय से तो अनभिज्ञ है और केवल व्यवहार (राग) से ही मोक्षमार्ग मानता वह केवल व्यवहाराभासी एकान्ती है अथवा जो व्यवहार (राग) को पूर्वचर या सहचर रूप से नहीं मानता वह केवल निश्चयाभासी एकान्ती है। अनेकान्ती कौन है ? जो मोक्षमार्ग तो निरपेक्ष शुद्ध रत्नत्रय से ही मानता है किन्तु वस्तु स्वभाव के अनुसार पूर्वचर या सहचर व्यवहार (राग) से भी इनकार नहीं करता। वह व्यवहार भी यथायोग्य साधक मे होता ही है। वह अनेकान्ती है।

इसी प्रकार जो यह कहता है कि ज्ञेय के कारण ही ज्ञान होता है या पदार्थों से ही ज्ञान की उत्पत्ति है वह केवल ज्ञेयरूप एक धर्म को मानने वाला एकान्ती है अथवा जो यह मानता है कि ज्ञेय कुछ हैं ही नहीं। जगत् मे एक अद्वितीय ब्रह्म (ज्ञान पदार्थ) ही है। वह भी एक धर्म से इन्कार करने वाला एकान्ती है। अनेकान्ती कौन है ? जो यह मानता है कि ज्ञान जानता तो अपने स्वकाल की योग्यता से है पर उचित ज्ञेय भी वस्तु स्वभाव अनुसार निमित्त हैं ही—वह अनेकान्ती है।

उसी प्रकार जो साख्यवत् त्रिकाली शुद्ध द्रव्य (निश्चय) को तो त्रिकाल शुद्ध मानता है किन्तु उसके नौ प्रकार के परिणमन को (व्यवहार को) नहीं मानता है वह एक धर्म को मानने वाला एकान्ती है तथा जो बौद्धवत् ६ पदार्थों को ही पूर्ण पदार्थरूप से मानता है किन्तु उनमे अन्वय रूप से पाये जाने वाले आत्म द्रव्य को नहीं मानता वह भी एक

धर्म को मानने वाला एकान्ती है। फिर अनेकान्ती कौन है ? जो द्रव्य पर्याय दोनों को स्वीकार करता है। वह अनेकान्ती है।

उसी प्रकार जो मन वचन काय या परवस्तु की क्रिया का कर्त्ता आत्मा को मानता है वह एक पदार्थ की क्रिया का लोप करने वाला अद्वैतवादी एकान्ती है। जो यह मानता है कि स्वतन्त्र रूप से प्रत्येक पदार्थ के भाव को वह द्रव्य स्वय कर्ता है वह अनेकान्ती है। कहाँ तक कहें वस्तु हर प्रकार से अनेकान्त रूप है।

ऐसा अनेकान्त ज्ञान ही ज्ञानियों की दृष्टि मे सम्यग्ज्ञान है। ऐसा वस्तु का निरूपण ही श्रीसर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि मे आया है। गणधरदेव ने सुनकर ऐसा ही स्वय अपने अनुभव से निर्णय किया है। अनादि निधन द्वादशांग मे भी ऐसा ही रचित है। ऐसे ही स्वरूप को दिखाने वाला आगम प्रमाण है। ऐसे, ज्ञानियों के अनेकान्तात्मक श्रुत प्रमाण ज्ञान को आचार्य देव ने मङ्गल मे याद किया है। इस प्रकार देव शास्त्र का मङ्गलाचरण किया। गुरु तो आचार्य महाराज स्वय थे ही। अब प्रतिज्ञा करते हैं—

प्रतिज्ञा

लोकत्रयैकनेत्र निरूप्य परमागम प्रयत्नेन।
अस्माभिरुपोद्भियते विदुषा पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥३॥

अन्वय —लोकत्रयैकनेत्र परमागम प्रयत्नेन निरूप्य विदुषा अस्माभि. अय पुरुषार्थसिद्ध्युपाय उपोद्भियते।

सूत्रार्थ—तीनों लोक को देखने के लिये जो एक अद्वितीय नेत्र है (अर्थात् जिससे सब कुछ ज्ञात हो जाता है-श्री प्रवचनसार गा. २३४) ऐसे परमागम को प्रयत्न से देखकर (वस्तु स्वभाव को भली भाँति निर्णय पूर्वक जानकर विद्वानों के लिए हमारे द्वारा यह पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ निकाला जाता है (बाहर पाडा जाता है)।

भावार्थ—यहाँ पहले तो श्रुतज्ञान की सामर्थ्य बतलाई है कि द्रव्य गुण पर्याय के ज्ञान द्वारा आगम के बल से केवलीवत् यह भी सब कुछ जान लेता है। फिर अपने ज्ञान की प्रमाणता बतलाई कि हमने आगम का भली भाँति अभ्यास करके सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति की है। फिर ग्रन्थ बनाने की प्रतिज्ञा करते हुए ग्रन्थ का परिचय भी दिया। वह इस प्रकार कि–पुरुष त्रिकालीज्ञायक आत्माको कहते हैं। सिद्धि उसकी कैवल्य अवस्था की प्राप्ति को कहते हैं। उपाय उस केवल ज्ञान की प्राप्ति का कारण जो निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र है उसको कहते हैं जो चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर बारहवें मे पूर्ण हो जाता है अर्थात् आचार्य देव ने इस ग्रन्थ मे पुरुष की सिद्धि का उपाय जो मोक्षमार्ग है उस मोक्ष मार्ग के कहने की प्रतिज्ञा की है।

अगली भूमिका—अब यह कहते हैं कि क्योंकि उस मोक्षमार्ग का निरूपण व्यवहार निश्चय दो प्रकार से होता है। अत. जो उपदेशक (मोक्ष मार्ग को बतलाने वाले आचार्य) दोनों रूप से मोक्षमार्ग की वास्तविकता को स्वय जानते हैं और उसी प्रकार से उसकी प्ररूपणा भी करते हैं वे ही सच्चे वक्ता हैं, वे ही मोक्षमार्ग की ठीक स्थापना कहते हैं तथा ऐसे निरूपण से ही शिष्यों का अज्ञान दूर हो सकता है। एकान्त रूप से मोक्षमार्ग की प्ररूपणा से नहीं यह नास्ति से स्वय ध्वनित हो जाता है—

मोक्षमार्ग के प्रवर्तक (नेता) का लक्षण

मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधा ।
व्यवहारनिश्चयज्ञा प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ॥४॥

अन्वय —व्यवहारनिश्चयज्ञा मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तर-विनेयदुर्बोधा (मुनीश्वरा) जगति तीर्थं प्रवर्तयन्ते।

सूत्रार्थ—जो (स्वय) व्यवहार और निश्चय दोनों के जानकार हैं तथा जिन्होंने (अपनी वाणी मे) निश्चय और व्यवहार के निरूपण

द्वारा नष्ट कर दिया है कठिनता से निवारण होने योग्य शिष्यों के अज्ञान को, (ऐसे आचार्य ही) जगत् मे (पृथ्वी तल पर) तीर्थ को (मोक्ष मार्ग को—मोक्ष के कारण को—मोक्ष के उपाय को) प्रवर्तित करते हैं—चलाते हैं—बताते हैं—दिखाते हैं।

भावार्थ—मुख्य, निश्चय, सत्यार्थ, भूतार्थ, असली, सद्भूत, इनका एक ही अर्थ है। निश्चय रत्नत्रय का द्योतक है जो निरपेक्ष एक ही मोक्ष का मार्ग है। उपचार, व्यवहार, असत्यार्थ, अभूतार्थ, नकली, असद्भूत इनका एक ही अर्थ है। जो मोक्षमार्ग रूप से कहा तो जाता है पर है नहीं किन्तु मोक्षमार्ग का पूर्वचर या सहचर है। अत अविनाभाव सम्बन्ध के कारण उसे भी मोक्षमार्ग रूप से निरूपण करने की आगम तथा लोक की रूढ़ि है। विवरण=निरूपण, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार का है, पर मोक्षमार्ग कहीं स्वय दो प्रकार का नहीं है। निरस्त=नष्ट कर दिया है। दुस्तर=कठिनता से निवारण होने योग्य। विनेय=शिष्य। दुर्बोध=कुज्ञान, अज्ञान, मिथ्याज्ञान, भ्रमणा, अजानपना-वह इस प्रकार है कि अधिकतर शिष्य तो व्यवहार मोक्षमार्ग को ही सच्चा मोक्षमार्ग समझे बैठे हैं और निश्चय मोक्षमार्ग को जानते ही नहीं हैं। वे अज्ञान से ग्रसित हैं। व्यवहाराभासी हैं। कोई निश्चय को निश्चय रूप से तो जानते ही नहीं हैं। केवल निश्चय के पक्षपाती हैं और व्यवहार के पूर्वचरपने को या सहचरपने को नहीं मानते हैं वे भी अज्ञान से ग्रसित हैं। निश्चयाभासी हैं। और कोई निश्चय व्यवहार दोनों को ही नहीं जानते। मोक्षमार्ग से ही अनभिज्ञ हैं। वे भी अज्ञानी हैं। यह अज्ञान इतना दृढ़ रूप से आत्मा मे घर किये बैठा है कि इसका दूर होना कठिन है वह इस प्रकार कि जो व्यवहार का पक्षपाती है उस की यह दृढ श्रद्धा है कि यह सच्चा मोक्षमार्ग है। इस के करते २ निश्चय प्रगट हो जायेगा। वह उसे उपचरित मोक्षमार्ग नहीं किन्तु वास्तविक मोक्षमार्ग माने बैठा है। निश्चय रत्नत्रय की बात ही सुनना नहीं चाहता। फिर उसका अज्ञान कैसे दूर हो। जो निश्चय के पक्षपाती

हैं उन्होंने पहले तो निश्चय वास्तव मे किसको कहते हैं इसको जाना ही नहीं है पर पक्ष निश्चय का इतना है कि व्यवहार की पूर्वचरता या सहचरता भी उन्हें नहीं भाती। अपने को पक्के मोक्षके ठेकेदार समझे बैठे हैं। भला इनका अज्ञान कैसे दूर हो। वडा कठिन है। तीसरे वो लोग हैं जो व्यसनों में, विषय कषायों मे इतने फसे हुये हैं कि मुख्य और उपचार दोनों से अजान हैं। उनका अज्ञान तो दूर होना बड़ा ही कठिन है। फिर भी गुरु महाराज इतने योग्य होते हैं कि उपर्युक्त सब शिष्यो के कठिनता से निवारण होने योग्य अज्ञान को भी अपनी दिव्य अनेकान्त (मुख्य और उपचार निरूपण से ओत प्रोत) वाणी द्वारा उनके अज्ञान अन्धकार को दूर कर सम्यग्ज्ञान का प्रकाश कर ही देते हैं।

अब कहते हैं कि ऐसा कौन कर सकते हैं तो कहते हैं कि वही ऐसा कर सकते हैं जो स्वयं मुख्य (निश्चय) और व्यवहार (उपचार) दोनों के जानकार हैं। भूले हुवे को मार्ग कौन दिखा सकता है जो स्वयं उसका जानकार हो। जो स्वयं अधा है वह दूसरों को क्या दिखलायेगा। अथवा जिसकी एकान्त बुद्धि है। केवल निश्चय का ही पक्षपाती है। व्यवहार के अस्तित्व से ही इनकार करता है या निश्चय मोक्षमार्ग को तो जानता ही नहीं केवल व्यवहार मार्ग से ही मोक्ष कहता है ऐसा एकान्तरूप जिसका ज्ञान है वह तो स्वयं अजान है वह क्या दिखलायेगा— जो स्वयं जानता है कि मार्ग तो निश्चय रूप ही है। व्यवहार तो पूर्वचर या सहचर है वह ही आचार्य जगत मे धर्म तीर्थ की प्रवर्तना करते हैं। तीर्थ, मोक्षमार्ग, मोक्ष का कारण, मोक्ष का उपाय, मोक्ष का साधन सब पर्यायवाची हैं। चौथे से बारहवें गुणस्थान की दशा के द्योतक हैं। तीर्थफल, मोक्ष, साध्य, सब पर्यायवाची हैं। तेरहवें गुणस्थान की दशा के वाचक हैं।

निश्चय व्यवहार का लक्षण (स्वरूप) तथा निश्चय की अनभिज्ञता

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहार वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुख· प्राय· सर्वोऽपि संसार· ॥५॥

अन्वय —इह (मोक्षमार्गे) (मुनीश्वरा) निश्चय भूतार्थं (वर्णयन्ति तथा) व्यवहार अभूतार्थ वर्णयन्ति। प्राय सर्व अपि ससार भूतार्थबोध-विमुख (अस्ति)।

सूत्रार्थ—यहाँ (धर्मतीर्थ मे—मोक्षमार्ग मे) (आचार्य) निश्चय मोक्षमार्ग को भूतार्थ मोक्षमार्ग (सच्चा मोक्षमार्ग—सवर निर्जरा रूप कार्य करने वाला मोक्षमार्ग) वर्णन करते हैं और व्यवहार मोक्षमार्ग को अभूतार्थ मोक्षमार्ग (झूठा मोक्षमार्ग—आस्रव वध करने वाला) वर्णन करते हैं। भूतार्थ म क्षमार्ग के ज्ञान से रहित प्राय (किसी२ ज्ञानी को छोडकर) सब ही ससार है। (और ससार जो अभूतार्थ मोक्षमार्ग है उसी को भूतार्थ मोक्षमार्ग समझता है)।

भावार्थ—पहले तो आचार्यदेव ने दोनों मोक्षमार्गों का लक्षण कहा है कि जो वास्तव मे मोक्षमार्ग है। सच्चा मोक्षमार्ग है । जिससे सवर निर्जरा रूप कार्य होता है वह तो निश्चय है और जो मोक्षमार्ग तो नहीं है किन्तु मोक्षमार्ग रूप से कहा जाता है। जो सवर निर्जरा तत्त्व रूप नहीं है किन्तु आस्रव वध के करने वाला है वह व्यवहार मोक्षमार्ग है। इस प्रकार दोनों के लक्षण का बराबर निर्णय होना चाहिये। इस सूत्र की प्रथम पक्ति वही है जो श्रीसमयसार जी गा० ११ की प्रथम पक्ति है किन्तु प्रकरण वश अर्थ मे इतना अन्तर है कि वहाँ आत्मा के ९ परि-णामो को व्यवहार और उनमे अन्वय रूप से पाये जाने वाले सामान्य को भूतार्थ-निश्चय कहा है। और यहाँ प्रकरण मोक्षमार्ग का है यहाँ यह अर्थ है कि शुद्ध सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की पर्यायें भूतार्थ मोक्षमार्ग है और श्रद्धा ज्ञान चारित्र के विकल्प अभूतार्थ मोक्षमार्ग है। इतना दोनों जगह प्रकरणवश फेर है सो मुमुक्षु को ध्यान रखना चाहिये। मुमुक्षु को भूल न हो जाय अत' यहाँ लिख दिया है। नीचे की पक्ति मे वहाँ तो यह अर्थ है कि ९ तत्त्वों के आश्रय वाला मिथ्यादृष्टि है और सामान्य के आश्रयवाला सम्यग्दृष्टि है और यहाँ यह अर्थ है कि जो

उपचार मोक्षमार्ग है। वास्तव मे मोक्षमार्ग नहीं है उससे तो सारा जगत् परिचित है। यहाँ तक कि उसीको अर्थात् मन वचन काय रुप परद्रव्य की क्रियाको तथा शुभ विकल्पों को ही मोक्षमार्ग समझे बैठा है और उसका दृढ विश्वास है कि इनके करते करते एक दिन निश्चय प्रकट हो जायेगा और जो कारण-समयसार (ज्ञायक) के आश्रय से कार्यसमयसार प्रकट होता है। (शुद्ध सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की पर्याय जो नवीन प्रकट होती है) वह वास्तव मे मोक्षमार्ग है। उस से ही संवर निर्जरा रूप कार्य होता है। उसके ज्ञान से अपरिचित है। अजान है। विमुख है। भूला हुवा है और कोई २ तो उस का विरोधी भी है। मोक्षमार्ग के विषय मे ऐसी जगत् की परिस्थिति है। इसलिये ही आचार्य देव ने कुछ खेद मिश्रित से शब्द लिखे हैं कि भाई वास्तविक मोक्षमार्ग से सब जगत् विमुख है।

प० टोडरमल जी ने कहा है.—

केऊ नर निहचै करि आत्मको शुद्धि मान भये हैं स्वच्छंद न पिछाने निज शुद्धता
केऊ व्यवहार दान शीलतप भाव ही को आतमको हित जान छांडत न मुद्धता॥
केऊ व्यवहार नय निहचै के मारग के भिन्न २ जान यह बात करे उद्धता।
जबै जानै निहचे के भेद व्यवहार सब कारन को उपचार माने तब बुद्धता॥

देखिये पंडित जी ने उपर्युक्त काव्य मे स्पष्ट लिखा है कि जब व्यवहार को "उपचार" कारण माने तब ज्ञानी है इस हिन्दी पद्य मे ठीक वही भाव है जो मूल सूत्र न० ४ तथा न० ५ मे है। आप ध्यान से विचारिये ऐसी प्रार्थना है।

व्यवहार का प्रयोजन तथा शिष्य का अपात्रता

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति॥६॥

अन्वय —मुनीश्वरा अबुधस्य बोधनार्थं अभूतार्थं देशयन्ति। यः केवल व्यवहार एव अवैति तस्य देशना नास्ति।

सूत्रार्थ—आचार्य अज्ञानी को ज्ञान कराने के लिये अभूतार्थ को (व्यवहार को) कहते हैं (किन्तु) जो केवल व्यवहार को ही जानता है, उस शिष्य के लिये उपदेश ही नहीं है।

भावार्थ—व्यवहार का प्रयोजन तो केवल निश्चय का ज्ञान कराना है न कि व्यवहार को ही निश्चय समझना। जैसे चौथे गुणस्थान मे जितने अश मे निश्चय रत्नत्रय प्रकट हुआ है। वह अश तो शब्द और विकल्प के अगोचर है फिर उसका कैसे ज्ञान करायें तो उस का यही तरीका है कि उसका अविनाभावी सहचर जो वहाँ शुभ विकल्प रूप प्रवृत्ति है उसके द्वारा उस शुद्ध अश के अस्तित्त्व का ज्ञान कराते हैं जैसेकि वहाँ देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान है। तत्त्वो का श्रद्धान है। प्रशम सवेग अनुकम्पा है। आठ अग हैं। उसी प्रकार पाँचवें के शुद्ध अश का ज्ञान उसके सहचर अणुव्रत रूप या प्रतिमा रूप शुभ प्रवृत्ति से कराते हैं। उसी प्रकार छठे के शुद्ध अश का ज्ञान १३ प्रकार की व्यवहार चारित्र रूप प्रवृत्ति से कराते हैं। इस प्रकार अज्ञानी को निश्चय रूप जो शुद्ध मोक्षमार्ग है उसका व्यवहार द्वारा ज्ञान कराते हैं। यह व्यवहार का प्रयोजन है। वह निश्चय का पूर्वचर या सहचर होनेके कारण शुद्ध अशको पकडा देता है। व्यवहार प्रतिपादक है। निश्चय प्रतिपाद्य है। बस इतना ही व्यवहार का प्रयोजन है। इससे अधिक और कुछ नहीं। अब नीचे की पक्ति का अर्थ समझाते हैं कि जो निश्चय को तो बिल्कुल जानता ही नहीं है। और जो व्यवहार प्ररूपणा है उसे ही सच्चे मोक्षमार्गवत् समझता है। उसे ही वास्तविक रत्नत्रय समझता है। तो आचार्य देव कहते हैं कि ऐसे मूर्खों के लिये जिनवाणी का उपदेश ही नहीं है। जिनवाणी का उद्देश्य तो निश्चय को पकडाने का था और वह असली मुद्दा उसने छोड दिया और जो अभूतार्थ वस्तु थी उसे ही भूतार्थ समझ कर पकड लिया तो कहते हैं कि उसके लिये हमारा उपदेश ही नहीं है। यहाँ शिष्य की अपात्रता का निरूपण किया है। व्यवहाराभासी की बात है।

इसी आशय की गाथा श्री समयसार जी मे न ८, ९, १० आई हैं पर प्रकरणवश इतना अन्तर है कि वहाँ तो वस्तु का ज्ञान कराने के लिये जो उसके चतुष्टय मे उपचरित असद्भूत (बुद्धिपूर्वक राग) अनुपचरित असद्भूत (अबुद्धिपूर्वक राग) उपचरित सद्भूत (स्वभाव पर्याय भेद) तथा अनुपचरित सद्भूत (गुण भेद) ये चार भेद किये हैं वे केवल म्लेच्छ के वस्तु के (अजान) को आर्य–वस्तु का (ज्ञाता) बनाने के लिये किये हैं। वस्तु के प्रतिपादन करने के लिये हैं किन्तु प्रतिपाद्य जो निश्चय सामान्य द्रव्य है उसमे ये चारो भेद नहीं हैं। वहाँ वस्तु परिज्ञान का प्रकरण है और यहाँ निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग का प्रकरण है। यहाँ निर्विकल्प मार्ग को निश्चय और विकल्प मार्ग को व्यवहार कह रहे हैं। हाँ एक नियम दोनो जगह बराबर है और वहाँ भी व्यवहार प्रतिपादक है निश्चय प्रतिपाद्य है और यहाँ भी व्यवहार प्रतिपादक है निश्चय प्रतिपाद्य है। वहाँ भी व्यवहार का प्रयोग निश्चय को पकड़ाने के लिये किया गया है और यहाँ भी व्यवहार का प्रयोग निश्चय को पकड़ाने के लिये किया गया है। प्रकरण का बराबर ध्यान रखना चाहिये। श्री समयसार जी का उद्देश्य ९ तत्त्वों मे पाये जाने वाले सामान्य आत्मा को पकड़ाने का है क्योंकि उसके आश्रय से सम्यक्त्व अथवा रत्नत्रय की उत्पत्ति होती है और यहाँ यह बताना चाहते हैं कि उस सामान्य के आश्रय से प्रकट होने वाली जो वास्तविक पर्यायें हैं वह तो निश्चय (भूतार्थ) मोक्षमार्ग है और उनके पूर्वचर या सहचर जो विकल्प (राग) वर्तता है वह व्यवहार (अभूतार्थ) मोक्षमार्ग है। दोनों जगह प्रकरणवश इतना अन्तर है जो मुमुक्षु को बराबर अनुसरण करना चाहिये। करुणावश लिख दिया है ताकि मुमुक्षु को भूल न हो जाय।

व्यवहार मे भूल

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥७॥

अन्वय —यथा अनवगीतसिंहस्य माणवकः एव सिंह भवति तथा अनिश्चयज्ञस्य व्यवहार एव ही निश्चयता याति ।

सूत्रार्थ—जैसे सिंह को नहीं जानने वालेके बिल्ली ही सिंहपने को प्राप्त होती है, उसी प्रकार निश्चय को नहीं जानने वाले के व्यवहार ही निश्चयपने को प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थ—जो सिंह को नहीं जानता था और जगल मे उसे जाना था ऐसे व्यक्ति को सिंह का ज्ञान कराने के लिये बिल्ली दिखलाई जाती है किन्तु जो कोई इस आशय को न समझकर उस बिल्ली को ही सिंह मान ले तो वह असली सिंह को तो न पा सकेगा और बिल्ली ही सिंहपने को प्राप्त हो जायेगी । ठीक इसी प्रकार व्यवहार तो बिल्लीवत् निश्चय के दिखाने वाला–पकडाने वाला—बताने वाला था न कि स्वय निश्चयरूप था । उसी को निश्चय रूप समझने वाले के व्यवहार ही निश्चयपने को प्राप्त हो जाता है ।

यह सूत्र नियमरूप है । सर्वत्र व्यवहार निश्चय पर लागू होगा । यहाँ तो इस प्रकार लागू होगा कि जो व्यवहार मोक्षमार्ग है वह ही अज्ञानी को निश्चय मोक्षमार्ग पने को प्राप्त हो जाता है अर्थात् वह व्यवहार मोक्षमार्ग को ही वास्तविक मोक्षमार्ग मानता है और वास्तविक मोक्षमार्ग से अनभिज्ञ रहता है और श्रीसमयसार जी मे जो भूतार्थवस्तु को पकडाने के लिये ४ भेद रूप अभूतार्थ वस्तु का निरूपण किया जाता है । अज्ञानियों को वह अभूतार्थ वस्तु ही भूतार्थपने को प्राप्त हो जाती है और भूतार्थ वस्तु (सामान्य) से अनभिज्ञ रह जाता है । जहाँ जहाँ भी आगम में व्यवहार निश्चय का निरूपण आता है अज्ञानी को वह व्यवहार ही निश्चयपने को प्राप्त हो जाता है जैसे श्रीमोक्षशास्त्र मे "गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकार" आया है । वहाँ केवल इतना ही आशय है कि जीव और पुद्गलों के स्वत होने वाले गमन मे धर्म और अधर्म निमित्तमात्र कारण हैं किन्तु अज्ञानी उन्हें निश्चय कारण मानकर वे ही जीव को चलाते ठहराते हैं ऐसा मान लेता है । इसी प्रकार "सुख दु ख जीना मरना पुद्गलों का उपकार है" या "जीवों का परस्पर उपकार है" ये सब निमित्त मात्र का कथन है किन्तु अज्ञानी को ये वास्तविकता को प्राप्त हो जाता है इसी प्रकार श्रीप्रवचनसार जी मे आया है कि ज्ञेय अपना

स्वरूप ज्ञान को सौंप देते हैं। ज्ञान उन्हें पकड लेता है यह सब उपचार कथन हैं। पर यह उपचार ही अज्ञानियों को भूतार्थपने को प्राप्त हो जाता है। आत्मा का मोक्षमार्ग मे जो शरीर वचन और परद्रव्य (शुद्ध भोजन आदि) की क्रियायें करने का कथन आता है वह सब उपचार है किन्तु वह सब कथन अज्ञानियों को निश्चयपने को प्राप्त हो जाता है। कर्मों के उदय से जीव मे यह भाव हुवे। जीव ने कर्मों को बनाया। यह सब उपचार कथन है। इस का आशय यह है कि जब जीव स्वय अपनी योग्यता से राग करता है तो उदय निमित्तमात्र है या जब कर्म वर्गणायें स्वय अपनी योग्यता से कर्मरूप मे परिणमती है तो जीव के राग की उपस्थिति निमित्तमात्र है। जीव कर्म फल को भोगता है। जीव ने कर्म बांधे। आकाश ने छह द्रव्यों को जगह दी। पुद्गलों ने पुद्गलो को बांध लिया। सब उपचार कथन है। अज्ञानी को सब भूतार्थपने को प्राप्त हो जाता है। सावधान रहिये आप से यह भूल न हो जाये। जय हो उस सद्गुरुदेव की जिसने आगम का ऐसा अलौकिक रहस्य समझाया है। आचार्य देव का यह करणसूत्र है। सर्वत्र लागू होगा। श्रीसमयसार जी गाथा नं० १५६ मे कहा है—

विद्वद्जनो भूतार्थ तज व्यवहार मे वर्तन करें।
पर कर्म क्षय का विधान तो परमार्थ आश्रित सन्त के ॥१५६॥
व्यवहार और निमित्त के कथनो मे लुटता जगत है।
रे ज्ञानी! इनसे चेत होकर जान तू भूतार्थ से ॥

उपसहार

व्यवहारनिश्चयौ य. प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थ ।
प्राप्नोति देशनाया स एव फलमविकल शिष्य ॥८॥

अन्वय —य. व्यवहारनिश्चयौ तत्त्वेन प्रबुध्य मध्यस्थ. भवति स एव शिष्य देशनाया अविकल फल प्राप्नोति।

सूत्रार्थ—जो व्यवहार निश्चय दोनों को तत्त्वरूप मे (वास्तविक रूप से–निश्चय सच्चा मोक्षमार्ग है और व्यवहार मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु आरोपित कथन है–ऐसा बराबर) जानकर मध्यस्थ होता है (किसी एक का पक्षपात नहीं करता अर्थात् केवल किसी एक की ही सत्ता मानकर स्वच्छन्द नहीं होता है किन्तु उनके स्वरूप अनुसार यथा योग्य

दोनो की सत्ता को मानता है), वह ही शिष्य उपदेश के सम्पूर्ण फल को पाता है (अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग का आश्रय करके सवर निर्जरा करता है और व्यवहार को सहचर या पूर्वचर तथा अभूतार्थ मानकर उसका ज्ञाता दृष्टा बन जाता है और अपने इष्ट की (मोक्ष की) सिद्धि कर लेता है) [दूसरा नही अर्थात् व्यवहार को ही निश्चयवत् मानने वाला नहीं या व्यवहार की सहचरता रहित अकेले निश्चय को मानने वाला इष्ट की सिद्धि नहीं कर पाता] ।

भावार्थ—इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि व्यवहार निश्चय दोनों को बराबर उपादेय मानकर दोनो को अगीकार करे । ऐसा मानने वाला तो मिथ्यादृष्टि है । एक को उपादेय माने दूसरे को सहचर या पूर्वचर भी अवश्य माने वह ही शिष्य सच्चा श्रद्धानी होकर मोक्षमार्ग का अधिकारी होता है । बस इतना ही यहाँ आशय है ।

गौणतया यह सूत्र अन्य व्यवहार निश्चय के सिद्धान्तो पर भी बराबर लागू होगा जैसे जो कार्य तो निश्चय कारण रूप उपादान से ही मानता है और व्यवहार रूप उपचार कारण निमित्त को भी मानता है वह ही शिष्य उपदेश के सार फल को पाता है । जो त्रिकाली सामान्य ज्ञायक है उसी को निश्चय वस्तु मानता है और उसमे पूर्वोक्त ४ व्यवहार नयों का निरूपण व्यवहार मानता है वह ही उपदेश के सार को पाता है । जो जीव और पुद्गल के ठहरना, चलना, अवगाह लेना और परिणमना कार्य तो स्वतन्त्र उपादान के गुणों की पर्यायों की योग्यता से मानता है और धर्म अधर्म आकाश काल को उपचरित कारण मानता है वह ही उपदेश के सार को पाता है । उसी प्रकार ज्ञान जानता तो स्वकाल की योग्यता से है । ज्ञेय तो उपचार-व्यवहार-निमित्त मात्र कारण है ऐसा जो जानता है वह ही उपदेश के सार को पाता है, जो राग का कर्तृत्व तो आत्मा के निश्चय से मानता है किन्तु कर्मोदय को उपचरित कारण मानता है वह ही उपदेश के सार को पाता है । कर्म बनते तो अपनी योग्यता से हैं । जीव का राग तो निमित्तमात्र है ऐसा जो मानता है वह ही उपदेश के सार को पाता है । इस प्रकार जो दोनों को मानकर मध्यस्थ होता है । एक को मानकर दूसरे को नहीं उड़ाता वह ही शिष्य बोध को प्राप्त होता है अन्यथा एक का आभासी होकर ससार मे ही भटकता है । यही इस सूत्र का सार है ।

प्रथम भूमिका समाप्त

प्रथम भूमिका पर प्रश्नोत्तर प्रमाण सूत्र सं०

प्रश्न १—इस ग्रन्थ का क्या नाम है और क्यों ?

उत्तर—इसका नाम 'श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय' है। पुरुष आत्मा को कहते हैं। अर्थ-प्रयोजन-साध्य अर्थात् मोक्ष है। सिद्धि-प्राप्ति को कहते हैं। उपाय-कारण अर्थात् मार्ग को कहते हैं। इसमे आत्मा का उपेय तत्त्व जो मोक्ष उसकी सिद्धि का उपाय है अर्थात् निश्चय तथा व्यवहार रत्नत्रय का निरूपण है। चौथे से बारहवें गुणस्थान के साधक जीव की दशा का दिग्दर्शन है। सार्थक नाम है। अपने नाम से ही अपने अभिधेय को प्रकाशता है। (३)

प्रश्न २—इसके कर्ता कौन हैं ?

उत्तर—इसके कर्ता बड़े सामर्थ्यशाली, लोकप्रसिद्ध, श्रीसमयसार-प्रवचनसार-पंचास्तिकाय जैसे परागम के संस्कृत टीकाकार, महान् पूज्य, अध्यात्म के शिरोमणि, प्रातः स्मरणीय, प्रत्येक विषय के पूर्ण निपुण, अलौकिक, अजोड़ पुरुष, गुरु महाराज श्री अमृतचन्द्र आचार्य देव हैं। हमे ये सबसे अधिक इष्ट हैं। इन्होंने भगवान् श्री कुन्दकुन्द आचार्य देव के गणधर का कार्य किया है। उनके पेट में घुसकर अद्भुत मर्म निकाला है। जैन धर्म का और खासकर अध्यात्म विषय को इनसे सुन्दर निरूपण करने वाला व्यक्ति इस युग में दूसरा नहीं हुवा। जैन धर्म के अन्तरंग पेट और गुप्त मर्म को इन्होंने ही खोला है। इनकी वाणी का प्रत्येक शब्द भेदविज्ञान तथा द्रव्य के स्वतन्त्र परिणमन पर दृष्टि रखकर लिखा गया है। यह जैन साहित्य लिखने मे सर्वश्रेष्ठ आचार्य हुवे हैं। उन्हें पुनः २ भक्तिभावपूर्वक नमस्कार है।

प्रश्न ३—इनके रचित कौन २ शास्त्र हैं :—

उत्तर—(१) श्रीसमयसार की संस्कृत टीका 'आत्मख्याति' (२) श्री

प्रवचनसार की सस्कृत टीका 'तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति' (३) श्री पचास्तिकाय की सस्कृत टीका 'समयव्याख्या' (४) चरणानुयोग का पूर्ण प्रकाशक तथा निश्चय व्यवहार के अनुसधान पूर्वक लिखा हुवा यह सर्वोत्तम अलौकिक शास्त्र 'श्री पुरुषार्थसिद्धयुपाय'। (५) करणानुयोग का श्रीतत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) के भाष्य रूप लिखा हुवा कवितावद्ध 'श्रीतत्त्वार्थसार' (६) द्रव्यानुयोग का विशेषतया अध्यात्म का महारत्न ग्रन्थराज 'श्रीपचाध्यायी'। ये ६ ग्रन्थ आप लिख गये हैं जो जैन धर्म के प्रत्येक विषय पर पूर्ण प्रमाणिक प्रकाश डालते हैं। हम इनकी रचनाओं को सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वोत्तम मानते हैं। इनके सब ग्रन्थों की टीका हम क्रमशः अवश्य प्रकाशित करेंगे। इनके शब्द श्रुतकेवली तुल्य अकाट्य हैं।

प्रश्न ४—अनेकान्त किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो परस्पर विरुद्ध धर्मों को वतलाने वाली सम्पूर्ण नयों के स्वरूप को एक ही वस्तु मे अविरोधपूर्वक सिद्ध करता है, एकान्त-मान्यताओं का खण्डन करता है तथा परमागम का प्राण है—जीवन है—बीज है क्योंकि सम्पूर्ण वस्तु समूह स्वयं सिद्ध अनेकान्तरूप है। उसको वतलाने वाला—दिखलाने वाला अनेकान्तवाद या स्याद्वाद है [विशेष स्पष्टीकरण के लिये ग्रथराज श्री पचाध्यायी दूसरी पुस्तक पढ़िये]। (२)

प्रश्न ५—अनेकान्त मोक्षमार्ग क्या है ?

उत्तर—चौथे से बारहवें गुणस्थान के शुद्ध अश को निश्चय मोक्षमार्ग कहते हैं। यह वास्तविक मोक्षमार्ग है तथा सहचर या पूर्वचार शुभ भावों को उपचरित या व्यवहार या आरोपित मोक्षमार्ग कहते हैं। क्योंकि दोनों एक ही अखण्ड पर्याय मे रहते हैं—अत दोनों को मानना—निश्चय को उपादेय-सत्यार्थ और व्यवहार को ज्ञेय—हेय—अभूतार्थ—किन्तु दोनों मे से किसी को छोडना नहीं—यही सच्चा

अनेकान्त है किन्तु दोनों को समान रूप से उपादेय और सच्चा मोक्षमार्ग मानना या किसी एक को बिल्कुल न मानना या व्यवहार को ही असली (निश्चय) रत्नत्रय मानना यह अज्ञानता या एकान्तवाद है [विशेष स्पष्टीकरण के लिये श्रीमोक्षमार्गप्रदीप पढ़िये]।

(४ से ८)

प्रथम भूमिका समाप्त हुई

पुरुष की सिद्धि के उपाय की भूमिका
(मोक्षमार्ग भूमिका)

(सूत्र ६ से २० तक १२)

जीव का सामान्य विशेषात्मक स्वभाव

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ॥९॥

अन्वय.—पुरुष चिदात्मा[१], स्पर्शगन्धरसवर्णैः विवर्जितः[२], गुणपर्ययसमवेत[३] समुदयव्ययध्रौव्यैः समाहित.[४], अस्ति।

सूत्रार्थ—जीव चैतन्यस्वरूप है[१], स्पर्श गन्ध रस वर्ण से रहित है[२], गुणपर्याय से युक्त है[३] और उत्पाद व्यय ध्रौव्य से युक्त[४] है।

भावार्थ—यह सूत्र प्रमाण दृष्टि से जीव के सामान्य विशेषात्मक स्वरूप का प्रकाशक है। जिस अर्थ मे श्री समयसार जी मे सूत्र नं० २ में प्रारम्भ मे 'जीवः'-पद आया है और उसका अर्थ वहां टीकाकार ने ७ विशेषणों सहित जो किया है ठीक उसी अर्थ मे यहा जीव का निरूपण है। और उसी अभिप्राय का प्रकाशक है। (१) 'पुरुष' पद यहां मनुष्य अर्थ मे नहीं है किन्तु जीव द्रव्य या आत्मद्रव्य के अर्थ मे है (२) 'चिदात्मा' का भाव यह है कि यह आत्मद्रव्य पुद्गलादि ५ द्रव्यों की तरह जड़ नहीं है किन्तु चेतनस्वरूप है। ज्ञानदर्शनमय है (३) स्पर्श रस गध वर्ण से रहित है का भाव यह है कि पुद्गल की तरह मूर्तिक द्रव्य नहीं है किन्तु आकाशवत् अमूर्तिक है

(४) गुणपर्याय सहित है का भाव यह है कि अपने अनन्त गुण और उन अनन्त गुणों के परिणमन से युक्त है। गुणों के परिणमन को ही पर्याय कहते हैं। यह विशेष कथन की बात है कि ससार मे औदयिक पर्यायें हैं, सिद्ध मे क्षायिक पर्यायें हैं किन्तु यहां तो इस बात का द्योतक है कि हर समय अपने स्वभाव या विभाव रूप गुण पर्यायों से युक्त रहता है, दूसरे के गुण पर्यायों से असबन्धित रहता है (५) उत्पाद व्यय से युक्त है का भाव है कि कूटस्थ नित्य नहीं है किन्तु परिणमन स्वभावी है। उत्पाद व्यय करने का उसका स्वत सिद्ध स्वभाव है। अत हर समय उत्पाद व्यय से युक्त रहता ही है। यह दूसरी बात है कि ससार मे विभाव रूप उत्पाद व्यय करता है और सिद्ध मे स्वभाव रूप उत्पाद व्यय करता है पर उत्पाद व्ययपने से रहित कभी नहीं होता है। (६) ध्रौव्ययुक्त है का यह भाव है कि अपनी त्रिकाली सत्ता छोडकर उत्पाद व्यय नहीं करता है— सर्वथा क्षणिक नहीं है किन्तु कायम रहता हुवा बदला करता है। कायम रहना भी उसका स्वभाव है और बदलना भी उसका स्वभाव है (७) एक बात यहा और यह खास समझ लेने की है कि पर्याय को गौण करके जो शुद्धद्रव्यार्थिक नय से जीव का सामान्य (त्रिकाली) स्वरूप कहा जाता है वह बात भी यहां नहीं है। यहा तो प्रमाण दृष्टिका सूत्रहै। यह सूत्र द्रव्य-पर्यायमय अर्थात् सामान्यविशेषात्मक जीवद्रव्य के स्वरूप का प्रकाशक है। पर्याय विशेष को गौण करके पर्याय सामान्य की अपेक्षा कथन है। विशेष उत्पाद व्यय की बात न करके सामान्य उत्पाद व्यय* की बात कही है।

---

*जीव के गुण पर्याय क्या हैं या उत्पाद व्यय क्या हैं? यह बताना यहा चरणानुयोग शास्त्र का काम नही है किन्तु इसके लिये ग्रथराज श्री पचाध्यायी पहली तथा छठी पुस्तक पढिये। उससे इसका परिज्ञान होगा। यहा तो जीव का साधारण स्वरूप उत्थानिका रूप मे निरूपण किया है। -

(१) जीव का उपर्युक्त स्वभाव दिखलाने का उद्देश्य यहा यह है कि अनादि का जीव परसमय रूप प्रवृत्ति करता आरहा है। इस शास्त्र में स्वसमयप्रवृत्ति का उपाय बतलाना है सो इसको ख्याल मे आवे कि परिणमन करना तो तेरा स्वत सिद्ध स्वभाव है ही। जब चाहे पुरुषार्थ द्वारा पर समय प्रवृत्ति को बदलकर स्वसमय प्रवृत्ति कर सकता है। वह स्वसमयप्रवृत्ति क्योंकर हो सकती है उसके लिये ध्रुव स्वभाव दिखलाया है कि स्वसमय तेरा स्वभाव है—वह सामान्यरूप से हर समय विद्यमान है। जब भी चाहे—उपयोग को उधर मोड़कर—उसका आश्रय करके स्वसमय रूप परिणति उत्पन्न कर सकता है। (२) अपने गुण पर्यायों से युक्त दिखलाने का उद्देश्य यहां यह है कि जीव अनादि से पर वस्तुओं में और उनके गुण पर्यायों मे ही निज की कल्पना (श्रद्धा) किये हुये है। सो इसे यह बतलाया है कि भाई पर के द्रव्य गुण पर्यायों को आत्मा कभी छूता भी नहीं है—अपने गुण पर्यायो मे ही रहता है—ऐसा दो द्रव्यों मे भेद विज्ञान करके सन्तुष्ट हो जा। व्यर्थ का क्यों परलक्ष मे दुःखी हो रहा है। (३) स्पर्श–रस–गध–वर्ण से रहित दिखलाने का उद्देश्य यह है कि जीव की सबसे अधिक ममता शरीर और धन मे है—सो इसे अपना अमूर्तिक स्वभाव जान कर यह ख्याल आवे कि अरे ये पदार्थ तो मूर्तिक हैं—तू अमूर्तिक है—तेरा इनका क्या सम्बन्ध? कुछ नहीं। (४) चिदात्मा दिखलाने का उद्देश्य यह है कि जीव कर्मचेतना रूप परिणमन करे, या कर्मफल चेतनारूप परिणमन करे या ज्ञानचेतना रूप परिणमन करे—पर वह हर अवस्था उसकी निजकृत है—चेतन है—जड नहीं है। वह हर दशा मे चेतन रूप ही रहता है। ऐसा नहीं है कि रागादि कहीं जड़ मे होते हों—वे निश्चय से जीवकृत हैं—उन्हें शुद्ध निश्चय नय से पुद्गल कहने का आशय केवल यही है कि वह क्षणिक भाव है—ऊपरतिरता भाव है। त्रिकाली मेटर का स्वभाव नहीं है। अत जीव जब भी चाहे—त्रिकाली स्वभाव का आश्रय करके उन्हें अपने में से निकाल फेंकता है पर उनको पुद्गल कहने का यह कदापि

आशय नहीं कि वे स्पर्शरसगन्धवर्णमय हैं। यह प्रथम का एक सूत्र ही गुरु महाराज ने इतना मार्मिक लिखा है कि जो जीव के पूर्ण स्वभाव पर–प्रमाणदृष्टि से–सामान्यविशेषात्मकदृष्टि से–जैसा कि वास्तव मे जीव है–उस पर पूर्ण प्रकाश डालता है। अत मुमुक्षु को चाहिये कि वह इसका बार २ मथन करके अपने हृदय मे उसके भाव को बिठलाये। यह सूत्र अध्यात्म दृष्टि से जीव के त्रिकाली स्वरूप को प्रकाशित करने के लिये नहीं लिखा है किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से सामान्य और विशेष दोनों स्वरूपों का सुमेल करके उभयात्मक जीव का स्वभाव दिखलाया है। इस Point में भूल न हो जाये। यह सूत्र जीव के अनादि अनन्त सामान्यविशेषात्मक स्वभाव पर प्रमाणदृष्टि से प्रकाश डालता है।

अब यह बताते हैं कि उत्पाद व्यय करना क्योकि उसका स्वभाव है। अत. अनादि से राग का ही उत्पाद व्यय करता आ रहा है और उसी का कर्ता भोक्ता बना हुआ है।

परिणममानो नित्य ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्तत्या।
परिणामाना स्वेषा स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥१०॥

अन्वय —स (पुरुषः) अनादिसंतत्या नित्य ज्ञानविवर्त्तैः परिणममान स्वेषा परिणामाना कर्त्ता च भोक्ता च भवति।

सूत्रार्थ—उपर्युक्त स्वभाव वाला वह जीव अनादि सन्तती से ज्ञान के विवर्त्तों द्वारा (विपरीत परिणामों द्वारा–विभाव भावों द्वारा–मोहरागद्वेष द्वारा) परिणमन करता हुवा अपने उन परिणामो का (ज्ञानविवर्त्तों का) ही कर्त्ता और उन्हीं (ज्ञानविवर्त्तों) का भोक्ता हो रहा है।

भावार्थ—यहा यह बताया है कि पूर्वसूत्र कथित स्वभाव को धारण करने वाला जीव अपने उत्पाद व्यय स्वभाव के कारण अनादिकालीन परिपाटी से ज्ञानभाव रूप परिणमन न करके राग द्वेष मोह विभाव रूप परिणमन करता चला आ रहा है और ज्ञानभाव का भोक्ता

न बनकर उस राग का ही भोक्ता बना हुवा है। यह सूत्र जीव को अनादि कालीन अज्ञान अवस्था का द्योतक है। ऐसा ही कोई वस्तु स्वभाव है कि यह अनादि से भेद विज्ञान के अभाव के कारण स्वय राग को ही करता आ रहा है और उसी का भोक्ता बना हुवा है। यहा गुरुदेव ने द्रव्य कर्म को याद भी नहीं किया है किन्तु जीव का परिणमन करना सामान्य स्वभाव बतलाकर झट यह कह दिया है कि स्वय अनादि से अपने स्वभाव मे अर्थात् अपने स्वकाल की योग्यता मे भेदविज्ञान के अभाव के कारण राग का कर्ता भोक्ता बना हुवा है। यही इसकी ससार अवस्था है।

(१) 'ज्ञानविवर्त्त' ज्ञान का अर्थ यहा 'उपयोग' है। वर्त्त का अर्थ 'वर्तन' अर्थात् कार्य है। उपयोग का कार्य जानने देखने का है। ज्ञानचेतना रूप परिणमन करने का है। उसको ज्ञानवर्त्त कहते हैं। उपयोग से जानने देखने का काम न लेकर जब जीव इससे उल्टा कार्य राग द्वेष मोह आदि विभावों का काम लेता है अर्थात् उपयोग द्वारा ज्ञानपरिणमन को छोडकर विभाव परिणमन करने लगता है—उसको ज्ञान का 'विवर्त्त' अर्थात् विपरीत परिणमन कहते हैं। राग द्वेष मोह उपयोग का ही कोई विपरीत परिणमन है। कुछ जड का भाव नहीं है।

(२) 'अनादिसन्तत्या' का भाव ऐसा है कि ससार अनादि है—जीव अनादि है। इसका परिणमन स्वभाव अनादि है। पर अनादि से उपयोग का स्वभाव परिणमन न करके अपनी भूल के कारण विपरीत परिणमन ही करता चला आ रहा है और 'नित्य' का यह भाव है कि वह भाव धारावाही रूप से करता ही आ रहा है। कभी एक समय के लिये भी ज्ञान का स्वभाव परिणमन नहीं किया किन्तु विभाव मे ही रमता है।

(३) 'स्वेपा परिणामाना' का ऐसा भाव है कि ये राग द्वेष आदि 'ज्ञानविवर्त्त' इसके निजभाव हैं। इसने स्वयं उत्पन्न किये हैं।

कहीं कर्म ने कराये हों या कर्म के कारण करने पड़े हों या कर्म प्रकृति के चतुष्टय मे ये भाव होते हों या ये भाव चेतन न हों—जड़ हों—सो बात नहीं है। इन भावों को जीव वास्तव मे अपने निज-द्रव्य से स्वय अपनी भूल के कारण उत्पन्न करता है।

(४) 'कर्त्ता च' का यह भाव है कि द्रव्य कर्त्ता है और उसका भाव-पर्याय—परिणाम उसका कर्म है। जीव द्रव्य कर्त्ता और पुद्गल द्रव्य उसका कर्म बना हो—ऐसा अनादि से कभी हुआ नहीं है किन्तु बस इस जीव ने अपने इन ज्ञानविवर्त्तों को ही किया है। वे इस के कर्म बने हैं और ये उनका कर्त्ता है। यही कार्य इस जीव ने अनादि से ससार मे किया है और कुछ किया नहीं है और न कर ही सकता है। पर को तो कोई कर ही नहीं सकता केवल अज्ञानी जो पर के कर्तृत्व का भाव करता है—वह भाव ही इसका ज्ञान विवर्त्त हैं। उसका यह कर्ता है। पर का नहीं।

(५) 'भोक्ता च' का भाव ऐसा है कि जीव द्रव्य भोक्ता और उसका भाव—पर्याय—परिणाम उसका भोग्य है। इन उपर्युक्त विवर्त्तों को कर्त्ता बनकर जन्म देता है और फिर उन्हीं के सुखदुःख भावों के साथ भोगता है। किसी ज्ञानविवर्त्त को हर्ष सहित भोगता है तो किसी ज्ञानविवर्त्त को द्वेष सहित भोगता है। इस प्रकार अनादि से उन ज्ञानविवर्त्तों का ही भोक्ता बना हुआ है। जीव भोक्ता और स्त्री—धन—भोजन—आदि सामग्री भोग्य बनी हो—ऐसा कभी हुआ नहीं है क्योकि पर के प्रदेश को जीव छूता भी नहीं है। केवल अपने चतुष्टय मे निजद्वारा किये गये इन ज्ञानविवर्त्तों को ही अनादि से भोगता चला आ रहा है। जीव ने अनादि का यही काम किया है कि विभाव को करे और भोगे। इस सूत्र मे गुरुदेव ने जीव की करतूति का दिग्दर्शन कराया है कि रे जीव ! आज तक तूने यह कुछ किया है अर्थात् विभाव ही करता चला आ रहा है और उसी का भोगता बना हुआ है।

अब यह कहते हैं कि इससे मुक्त होने का नाम ही पुरुष की सिद्धि है अर्थात् आत्मा की साध्य दशा है। कैवल्य अवस्था है। कृतकृत्यपना है —

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति ।
भवति तदा कृतकृत्य सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्न ॥११॥

अन्वय.—यदा स सवविवर्त्तोत्तीर्णं[1] अचल[2] चैतन्य आप्नोति तदा सम्यक्पुरुषार्थसिद्धि आपन्न कृतकृत्य. भवति।

सूत्रार्थ—जब वह ही जीव सब विभाव भावों से उत्तीर्ण (पार-रहित) और अचल (निष्कम्प) ऐसी चेतना को प्राप्त करता है (अर्थात् केवली हो जाता है), उस समय भले प्रकार पुरुषार्थ (आत्मा के प्रयोजन-भूत कार्य) की सिद्धि को प्राप्त हुआ कृतकृत्य होता है (पूर्ण ज्ञाता दृष्टा होता है। राग का कर्त्ता भोक्ता बिलकुल नहीं रहता)। [श्री पचास्ति-काय सूत्र २८ टीका] (कर्म चेतना से ज्ञानचेतना रूप हो जाता है)।

भावार्थ—पहले जीव की अनादि कालीन अज्ञान अवस्था का वर्णन किया था। यहा उसकी साध्य अवस्था का—लक्ष्य का—ध्येय का वर्णन किया है कि जब आत्मा, आत्मा के स्वभाव रूप अनन्त ज्ञान-दर्शनमय चेतना को प्राप्त कर लेता है—बस उसकी प्राप्ति ही जीव का कृतकृत्यपना है अर्थात् यही करने योग्य कार्य है जिसको जीव कर लेता है। जिस चैतन्य को यह प्राप्त करता है वह चैतन्य कैसा है ? इसका स्पष्टी-करण दो विशेषणों द्वारा किया है—एक तो यह कि सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं अर्थात् सब विपरीत परिणामों से रहित है, राग द्वेष मोह उसमें रंचमात्र नहीं है। दूसरा विशेषण अचल है। यह कषाय सहित योग कम्पन के अभाव का द्योतक है तथा जो बारहवें गुणस्थान में रह जाता है उसके भी अभाव का द्योतक है। अचल अवस्था—निष्कम्प अवस्था—कैवल्य अवस्था को कहते हैं। उसी को कृतकृत्य कहते हैं। उसी को उपेय भाव—साध्य भाव, ध्येयभाव, , पूर्ण स्वभाव

भाव या ज्ञान चेतना या भले प्रकार पुरुषार्थ की सिद्धि कहते हैं। तीर्थ फल भी कहते हैं। अनादि कालीन राग के कर्त्ता भोक्तापने को समाप्त करके इस-सर्व विभाव रहित, ज्ञप्तिपरिवर्तनरहित, शुभाशुभयोग कम्पन रहित, इन्द्रिय सुखदु खरहित, मात्र चैतन्य रूप अर्थात् सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्वरूप कूटस्थ अचल* अवस्था का प्राप्त करना ही भले प्रकार पुरुष (आत्मा) के प्रयोजन (साध्य) की सिद्धि है जिस को यह प्राप्त हो जाता है। इस अवस्था की प्राप्ति का मार्ग ही इस ग्रन्थ मे दिखलाना है।

जीवकृत परिणाम निमित्तमात्र प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला कर्मभावेन ॥१२॥

अन्वय —पुन अत्र जीवकृत परिणाम निमित्तमात्र प्रपद्य अन्ये पुद्गला स्वय एव कर्मभावेन परिणमन्ते।

अन्वयार्थ —और फिर यहा जीव के किये हुये (विभाव) परिणाम का निमित्त मात्र पाकर (उसकी उपस्थिति मे) दूसरे पुद्गल (कार्माण वर्गणायें) स्वयं ही (अपनी उपादान की योग्यता से) कर्मभाव से (ज्ञानावरणादि रूप से) परिणमन करती हैं।

भावार्थ—इस सूत्र का अनुसन्धान पूर्व सूत्र न० १० से जोड कर कहते हैं कि यह जीव अनादि का अज्ञानी है और राग द्वेष मोह का कर्त्ता भोक्ता बना हुआ है। बस यह जीव तो अपनी प्रभुत्व शक्ति द्वारा स्वतन्त्र रूप से राग को करता है (श्री पचास्तिकाय सूत्र ६२ तथा ६८)। बस इसके कर्तृत्व की इतनी ही मर्यादा है-सीमा है। आगे स्वत सिद्ध वस्तु स्वभाव को-कानूने कुदरत को-Autometic System को-निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध को दिखलाते हैं कि जब यह जीव स्वय विभाव रूप परिणमता है तो ससार मे भरी हुई कार्माण वर्गणायें इस

*उपर्युक्त सूत्र मे वही भाव है जो उन्होने अपनी श्री पचास्तिकाय सूत्र २८ की टीका मे झलकाया है।

के राग की उपस्थिति का निमित्तमात्र पाकर अपने योग्य बहिरंग कारण की उपस्थिति मे स्वयं अपने स्वकाल की योग्यता से ज्ञानावरणादि ८ मूल भेदरूप तथा यथायोग्य उत्तरभेद रूप परिणमन करके प्रकृति, प्रदेश, स्थिति तथा अनुभाग अवस्था को धारण कर लेती हैं। फिर क्या होता है यह आगे बताते हैं—

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकै स्वयमपि स्वकैर्भावै ।
भवति हि निमित्तमात्र पौद्गलिक कर्म तस्यापि ॥१३॥

अन्वय —स्वय अपि चिदात्मकै स्वकै भावै परिणममानस्य तस्य चित अपि पौद्गलिक कर्म हि निमित्तमात्र भवति।

अन्वयार्थ—स्वयं ही (अपने स्वकाल की योग्यता से) चैतन्य स्वरूप अपने राग द्वेष मोह रूप विभाव भावों द्वारा परिणमन करते हुये उस (अनादि कालीन अज्ञानी) आत्मा के वह पौद्गलिक कर्म जिसने कि सूत्र नं० १२ के अनुसार कर्म अवस्था धारण की थी जीव के उस विभाव मे निमित्त मात्र कारण होता है।

भावार्थ—जो बात गुरु देव ने सूत्र न० १० मे कही थी उसी का अनुसरण करते हुये लिखते हैं कि जीव अपनी अनादि कालीन अज्ञानता के कारण (भेद विज्ञान के अभाव के कारण) जब स्वय अपनी इच्छा से राग भाव से परिणमता है तो उस समय उस आत्मा के पौद्गलिक कर्म भी निमित्त मात्र कारण बन जाता है अर्थात् पिछले सूत्र अनुसार जिस प्रकार कर्मों के बनने के लिये जीव का राग निमित्तमात्र बना था—उसी प्रकार जीव के राग के लिये कर्म निमित्तमात्र बन जाता है।

इस प्रकार अनादि मे यह विभाव का चक्कर चला आ रहा है—यही यहा दिखलाया है। राग भाव को 'चैतन्यस्वरूप' विशेषण दिया है—उसका यह भाव है कि राग जीव की पर्याय मे होता है। जीव का निजद्रव्य से उत्पन्न हुआ भाव है। उसने स्वय किया है। कहीं कर्म ने

कराया हो ऐसा भी नहीं है अथवा यह राग भाव जड रूप हो–कर्म प्रकृति के चतुष्टय मे हो ऐसा भी नहीं है। 'स्वय' का अर्थ है अपनी इच्छा से किया है। 'स्वक भाव' का अर्थ है जीव द्रव्य से उत्पन्न निज भाव है। कहीं कर्म प्रकृति का किया हुआ या कराया हुआ नहीं है–वह तो केवल निमित्तमात्र है जैसा कि नीचे की पक्ति मे स्पष्ट कर दिया है। 'चित' का भाव है कि यह राग चेतन का भाव है–जीवकृत है। कर्म कृत नहीं। 'स्वयमपि चिदात्मकै• स्वकै भावै परिणममानस्य' इतना स्पष्ट विवेचन होते हुये भी भगवान् जाने लोग कैसे कह देते हैं कि कर्म जीव को भाव कराता है या कर्म के उदय मे जीव को भाव करना ही पडता है। कर्म तो धर्मद्रव्यवत् निमित्त मात्र रूप से उपस्थित है। यह जीव स्वय अपनी विभाव की चपक के कारण–अपने विभाव के चसके मे–स्वय अपनी इच्छा से–राग–द्वेष–मोह करता है–ऐसा सूत्र का स्पष्ट अर्थ है। कर्म का तो केवल निमित्त नैमित्तिक दिखलाया है। जगत् निमित्त नैमित्तिक को समझा ही नहीं–कर्त्ता कर्म ही बनाता है। ऐसा ही कुछ लोगों का सस्कार जम गया है। फिर भी मार्ग तो मार्ग ही रहेगा।

अगली भूमिका—अब कहते हैं कि यद्यपि इस भाव को स्वयं जीव करता है। अनादि से इस का कर्त्ता भोक्ता बना हुआ है पर फिर भी यह जीव का क्षणिक भाव है–आगन्तुक भाव है, नैमित्तिक भाव है; निकल जाने वाला भाव है–ऊपर तरता भाव है। मूल मेटर की वस्तु नहीं है। जीव जब भी चाहे स्वभाव का आश्रय लेकर इसे निकाल सकता है। इस प्रकार यद्यपि यह निकलने वाली चीज है आस्रव भाव है अर्थात् आई हुई चीज है फिर भी जो कोई इसे विकार या मैल न समझ कर जीवास्तिकाय के मूल मेटर का अग समझ लेता है वह धोखा खाता है। और यह धोका ही अज्ञान है। अज्ञानता का कारण है। एकत्व बुद्धि को उत्पन्न करने वाला है। अधिक क्या कहें राग और जीव को (विभाव और पारिणामिक को) एक द्रव्य मानना ही मिथ्यात्व है। ससार का बीज है। कोई कहते हैं—

मूल सूत्र

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव ।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभास स खलु भवबीज ॥१४॥

अन्वय —एवं अयं कर्मकृतैः भावैः असमाहितः अपि बालिशानां युक्त इव प्रतिभाति । स प्रतिभासः खलु भवबीजं (अस्ति) ।

सूत्रार्थ—इस प्रकार यह आत्मा कर्मकृत भावों से (कर्म का उदय है निमित्त जिनमे ऐसे विभाव भावों से-कर्म को अनुसरण करके किये हुये भावों से) सयुक्त न होने पर भी (स्वभाव और विभाव का तादात्म्य न होने पर भी-एक द्रव्य न बन जाने पर भी-पारिणामिक और विभाव एक न हो जाने पर भी) अज्ञानी जीवों को (भेद विज्ञान के अभाव के कारण) सयुक्त सरीखा (तादात्म्य सरीखा-एक द्रव्य सरीखा) प्रतिभासित होता है-दीखता है और यह प्रतिभास ही (दीखना-प्रतीति-श्रद्धा ही) निश्चय करके ससार का बीजभूत है (योनि स्थान है-जन्म दाता है-ससार उत्पत्ति का कारण है) [ध्रुव स्वभाव और क्षणिक विभाव की इस एकता की मान्यता को ही मिथ्यात्व कहते हैं । यह मिथ्यात्व का पक्का लक्षण है)] ।

(१) कर्मकृत भाव—से यहा यह कदापि आशय नहीं कि 'कर्म का कराया हुआ भाव'—ऐसा अर्थ करने से पूर्वसूत्रों से विरोध हो जायेगा । यहा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि का कथन है । इस दृष्टि में मात्र स्वभाव ही जीवरूप से कहा जाता है । विभाव को परभाव या कर्मकृतभाव कहते हैं । इसका भाव है कि जीव दो प्रकार के भाव किया करता है-एक स्वभाव भाव-एक विभाव भाव । स्वभाव भाव तो सामान्य के आश्रय से होता है-यह तो त्रिकाली द्रव्य का स्वभाव परिणमन है-उसमें निमित्त का दखल नहीं है और विभाव भाव कर्म के उदय की उपस्थिति मे जीव करता है । है तो यह भी त्रिकाली द्रव्य का परिणमन-पर कर्म के निमित्त से होने वाला है ।

अत निकाला जाने वाला भाव है। सयोगी तत्त्व है। इसलिए इसको कर्मकृत भाव कहते हैं। यह ध्यान रहे कि अशुद्ध द्रव्यार्थिक-नय से तो राग को 'जीवकृतभाव' कहते हैं जैसाकि पूर्वसूत्र न० १०, १२, १३ मे कहकर आये हैं और द्रव्य दृष्टि से-स्वभाव दृष्टि से-शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि से-'कर्मकृतभाव' कहते हैं क्योंकि यह त्रिकाली स्वभाव मे नहीं है। पूर्वसूत्र अशुद्धद्रव्यार्थिक नय के थे और यह सूत्र शुद्धद्रव्यार्थिक नय का है। इसमे भूल न हो जाय। वहा जीव को राग का कर्त्ता दिखलाया है अर्थात् राग को जीवकृत भाव कहा है और यहा भेदविज्ञान की बात है। द्रव्यदृष्टि की बात है। यहा उस राग को 'कर्मकृत' कहा है। ये भेद गुरुगम से बराबर समझने योग्य है।

(२) असमाहित अपि युक्त इव—यद्यपि पूर्वसूत्रों अनुसार राग जीव का किया हुआ है। जीव उससे युक्त है। तन्मय है। पर वह पर्यायदृष्टि की बात है। जब स्वभाव दृष्टि से देखते हैं तो यह क्षणिक दीखता है। ऊपरतरता भाव दीखता है। जीव से तादात्म्य नहीं है। यदि तादात्म्य होता तो निकल कैसे जाता ? तादात्म्य तो ज्ञान से है-राग से नहीं। तादात्म्य न होते हुये भी उसे तादात्म्य समझना-त्रिकाली मेटर का अग मानना-सयोगी तत्त्व न मानकर असयोगी मानना-बस यही ध्रुव स्वभाव और क्षणिक विभाव की एकत्वबुद्धि रूप मिथ्यात्व है जो ससार उत्पत्ति का बीज है।

(३) ज्ञानी अज्ञानी की दृष्टि—सूत्र की नीचे की पक्ति मे ज्ञानी-अज्ञानी की दृष्टि का अन्तर दिखलाया है। अज्ञानी की पर्यायदृष्टि है। उसे ये भाव जीव का निज भाव दीखता है क्योंकि जीव के चतुष्टय मे है-जीव ने स्वयं किया है। इस पर उसकी दृष्टि जमी रहती है। उसे द्रव्यदृष्टि नहीं है जो यह भाव 'परभाव' नजर आवे। अज्ञानी

उसे मूल जीवास्तिकाय मेटर का अंग मानता है। बस यही उसकी दो वस्तुओं मे एकत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व है जो उसकी संसार उत्पत्ति का बीज है। किन्तु ज्ञानी की द्रव्य दृष्टि है। वह इसे संयोगी तत्त्व मानता है। क्षणिक भाव, ऊपरतरता भाव मानता है। श्री समयसार जी सूत्र १८१ की टीका मे भेदविज्ञान कराते हुये राग का और उपयोग का (ध्रुव स्वभाव का) प्रदेश भिन्न लिखा है। उसका अर्थ यही है कि दोनों अत्यन्त भिन्न वस्तुयें हैं। भिन्न हैं तभी तो पुरुषार्थ द्वारा दोनों भिन्न हो जाती हैं। बस उन दोनो को अत्यन्त भिन्न न मानकर एक मानना ही अनादि कालीन एकत्व-बुद्धि है—मिथ्यात्व है। यही खास समझने की चीज है। इसके ठीक २ समझे बिना (राग और पारिणामिक की द्रव्य तथा पर्याय मे ठीक २ क्या परिस्थिति है—यह ख्याल मे आये बिना) सब कुछ निरर्थक है। मोक्षमार्ग प्रारम्भ न होगा।

आचार्य महाराज पिछले सूत्रो मे अशुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि का कथन करते आ रहे थे—इस सूत्र मे सिनेमा की तरह क्या एकदम पर्दा बदला है कि द्रव्यदृष्टि का कथन आरम्भ कर दिया है क्योंकि उन्हे आगे मोक्षमार्ग दिखलाना था और मोक्षमार्ग बिना द्रव्यदृष्टि हुये हो नहीं सकता। दूसरे पर्याय दृष्टि तो जीव की अनादि की है सोई पहले उसका ज्ञान करा दिया और द्रव्य दृष्टि तो अब नई करानी है यही तो करने योग्य कार्य है जिसके लिये ग्रन्थ लिखा जा रहा है। अगला सूत्र पूरा द्रव्यदृष्टि का है—

खास सूत्र—मोक्षमार्ग का लक्षण

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वं।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयं ॥१५॥

अन्वय·—विपरीताभिनिवेश निरस्य, निजतत्त्व सम्यक् व्यवस्य यत् तस्मात् अविचलन, स एव अयं पुरुषार्थसिद्ध्युपाय अस्ति।

सूत्रार्थ—उपर्युक्त विपरीताभिनिवेश (ध्रुव स्वभाव और क्षणिक विभाव की एकत्व बुद्धिरूप मिथ्या मान्यता) को नष्ट करके, निज तत्त्व (पारिणामिक भाव) को यथावत् जान करके, जो उस अपने तत्त्व से (ध्रुव स्वभाव से) च्युत न होना है–वह ही यह पुरुष (आत्मा) की सिद्धि (कैवल्य अवस्था) का उपाय (निश्चय रत्नत्रय की एकता) है अर्थात् अपनी आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान, और उसमे स्थिरता ही मोक्ष-मार्ग है।

भावार्थ—पूर्वसूत्र न० १४ अनुसार त्रिकाली स्वभाव और क्षणिक विभाव को एक मानना विपरीताभिनिवेश है। इसी को मिथ्यात्व कहते हैं। भेदविज्ञान के द्वारा इसको दूर करे और इन विभावों से भिन्न मैं ज्ञायक शुद्ध हू। परमपारिणामिक रूप हू। यही मेरा निज तत्त्व है। इस को भले प्रकार जाने। इस निज तत्त्व के श्रद्धान करने और जानने का नाम ही निश्चय सम्यग्दर्शन और है। फिर जो उसमे स्थिरता करना है यह निश्चय चारित्र है। इस चारित्र को मूल मे "जो उस स्वभाव से चलायमान नहीं होना है" इन शब्दों मे कहा है। यह वीतराग चारित्र है। यह जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता है बस यही पुरुष की सिद्धि जो केवल ज्ञान उसकी प्राप्ति का उपाय अर्थात् मोक्षमार्ग है।

सूत्र में 'विपरीताभिनिवेश निरस्य' इतना पद मिथ्यात्व को दूर करने का द्योतक है। "निजतत्त्व सम्यक् व्यवस्य" इतना पद निश्चय सम्यग्ज्ञान का द्योतक है। 'यत् तस्मात् अविचलन' इतना पद निश्चय सम्यक्चारित्र का द्योतक है। 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' पद इन तीनों की एकता का द्योतक है जो साध्य अवस्था की प्राप्ति का उपाय है। ऊपर के सूत्र का सार अर्थ इतना ही है कि अपनी आत्मा के (पारिणामिक भाव के) विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं, अपनी आत्मा के ठीक ठीक जानने को सम्यग्ज्ञान कहते हैं,

और अपनी आत्मा मे स्थिरता को सम्यक्चारित्र कहते हैं। तीनों की एकता को मोक्षमार्ग कहते हैं वही पुरुष के अर्थ की सिद्धि का उपाय है अर्थात् आत्मा के उपेय तत्त्व की प्राप्ति का उपाय है। मोक्षमार्ग है। इसमे वह भाव है जो श्री नियमसार सूत्र ३ की टीका का है या इसी ग्रन्थ का आगे सूत्र न० २१६ का है। श्रीपचास्तिकाय सूत्र १०६, १५४ मे अथवा श्रीप्रवचनसार सूत्र २४२ मे है। यह मुख्यरूप से तो निर्दोष बारहवें गुणस्थान की अवस्था का निरूपण है। सिद्धात दृष्टि से तो यही अर्थ है। बाकी चरणानुयोग का ग्रथ होने के कारण छठे सातवें गुणस्थान की अवस्था को भी गौण रूप से कहा जा सकता है। सोई कहते हैं—

छठे सातवें गुणस्थान की अवस्था

अनुसरता पदमेतत् करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्ति ॥१६॥

अन्वय —एतत् पद अनुसरता मुनीना, करम्बिताचारनित्य-निरभिमुखा[1], एकान्तविरतिरूपा[2], अलौकिकी[3], वृत्ति भवति।

सूत्रार्थ—इस पूर्वोक्त रत्नत्रय पदवी को अनुसरण करने वाले (अर्थात् प्राप्त हुये) मुनियों की राग भावों से मिश्रित आचरण-से पराङ्मुख[1], सर्वथा निवृत्तिरूप[2] और लोक से विलक्षण प्रकार की[3], वृत्ति. (वर्तन–अन्तरग परिणति) होती है।

(१) अलौकिकी वृत्ति—जिस दशा का पूर्व सूत्र न० १५ में निरूपण किया है अर्थात् जो दशा आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और स्थिरता रूप है–वह दशा ससारी जीवों के तो होती ही नहीं किन्तु चौथे पांचवें गुणस्थानवर्ती धर्मात्माओं के भी नहीं होती। मुनियों के ही होती है। उनकी परिणति तो कुछ विलक्षण प्रकार की ही होती है। अलौकिक होती है। यह विशेषण छठे सातवें गुणस्थान की दशा की अपेक्षा से डाला है। और कैसी होती है?

(२) एकान्तविरतिरूपा—सर्वथा निवृत्ति रूप होती है अर्थात् बुद्धि-पूर्वक राग भावों से सर्वथा रहित होती है। स्वरूप की पूर्णस्थिरता-रूप होती है। यह विशेषण केवल सातवें की ध्यान अवस्था की अपेक्षा डाला है। और कैसी होती है ?

(३) करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा— राग भावों से मिश्रित आचरण से नित्य पराङ्मुख होती है। यह विशेषण छठे गुणस्थान की दशा की अपेक्षा डाला है कि जब एकान्तविरतिरूप स्वरूप मे नहीं ठहर सकते हैं। गिरकर छठे मे आ जाते हैं तो यद्यपि उस समय उनकी प्रवृत्ति १३ प्रकार के चारित्र रूप हो जाती है। वस्तु का विचार, शास्त्र निर्माण, शिष्यों को पढाना, प्रवचनादि शुभ क्रियाये भी करते हैं और भोजन ग्रहण, मलमूत्र त्याग आदि क्रियायें भी करते हैं। ये क्रियायें राग मिश्रित भी हैं। पर वे इनको करते हुए भी इनसे पराङ्मुख हैं। रुचि से प्रवृत्त नहीं होते हैं। इन्हें उपादेय नहीं किन्तु हेय समझते हैं। इनको मोक्ष का कारण नहीं किन्तु बध करने वाली जानते हैं। इनके कर्त्ता भोक्ता नहीं किन्तु ज्ञाता रहते हैं यह भाव 'पराङ्मुख' शब्द का है।

पूर्व सूत्र न० १५ मे तो यह दिखलाया था कि मोक्षमार्ग इस दशा को कहते हैं और इस सूत्र मे यह दिखलाया है कि उस दशा को धारण करने वाले जीव ऐसे होते हैं अर्थात् सर्वथा पांच पापों से निवृत्ति-रूप दशा के धारी मुनि ही होते हैं। नग्न दिगम्बर सन्त ही होते हैं। उनकी ऐसी दशा ही होती है। यही दशा ही मोक्ष का कारण है किन्तु जो कोई अपने परिणामों की कमजोरी के कारण इस दशा को धारण न कर सके उसे Exceptional case मे एकदेश रत्नत्रयरूप श्रावक दशा तो ग्रहण करनी ही चाहिये जिसका वर्णन कि इस ग्रन्थ मे किया जायेगा। सोई अब कहते हैं—

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन॥१७॥

अन्वय—यः बहुशः प्रदर्शिता समन्तविरतिं जातु न गृह्णाति तस्य अनेन बीजेन एकदेशविरतिः कथनीया (अस्ति)।

सूत्रार्थ—जो कोई जीव बारम्बार ऊपर दिखलाई हुई सम्पूर्ण निवृत्तिरूप (मुनिवृत्ति) को कदाचित् ग्रहण न करे तो इसी कारण से उसके लिये एकोदेश निवृत्तिरूप (गृहस्थाचार को) कथन करे (उपदेश करे)।

भावार्थ—रत्नत्रय रूप अथवा मोक्षमार्ग रूप अथवा पुरुष की सिद्धि के उपायरूप तो यही दशा है जो पूर्व सूत्र १५, १६ मे वर्णित है पर कदाचित् जो कोई उस सर्व निवृत्ति रूप दशा को बार २ सुनने पर भी ग्रहण करने मे असमर्थ हो—उसके लिये इसी कारण कि वह सर्वथा निवृत्त दशा को ग्रहण नहीं कर सकता—यह एकदेश निवृत्तिरूप जो श्रावक दशा है वह यहां (इस ग्रंथ मे) कही जाती है। अर्थात् जो मुनि धर्म को सुनकर उसको ग्रहण करने मे अपनी अटक के कारण असमर्थता प्रगट करते हैं। ऐसे जीवों के लिये यह श्रावकाचार का ग्रन्थ बनाया गया है पर उसको भी वह अटक दूर होने पर तुरन्त इस दशा को ग्रहण करना ही चाहिये। अब यह कहते हैं कि पहले उपदेश तो मुनि धर्म का ही देना चाहिये—

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानं ॥१८॥

अन्वय—यः अल्पमतिः यतिधर्मं अकथयन् गृहस्थधर्मं उपदिशति तस्य भगवत्प्रवचने निग्रहस्थानं प्रदर्शितम्।

सूत्रार्थ—जो तुच्छबुद्धि उपदेशक मुनिधर्म को नहीं कह करके श्रावक धर्म का उपदेश देता है, उस उपदेशक को भगवत के सिद्धांत में दण्ड पाने का स्थान कहा है।

भावार्थ—इस सूत्र मे आचार्य देव ने उपदेश का क्रम बतलाया है

कि सर्व प्रथम मुनि धर्म का उपदेश देना चाहिये ताकि जो शिष्य ससार से अत्यन्त उदासीन हैं तथा जिसका वीर्य (पुरुषार्थ) उग्र है वह उसको ग्रहण करके आत्मकल्याण कर सके और जो शिष्य उसमे अपनी असमर्थता प्रगट करे–उसको गौण रूप से श्रावक धर्म समझाये ताकि जितने अश मे रत्नत्रय प्राप्त हो, उतना ही अच्छा है किन्तु जो कोई उपदेशक (आचार्य) इस पद्धति को उलङ्घन करके पहले ही श्रावकधर्म को कथन करता है वह जिन सिद्धात में दन्ड का पात्र है अर्थात् उसे क्रमभग निरूपण के कारण कर्म का वन्ध होता है। उसे क्यों दण्ड मिलता है–इसके कारण को स्पष्ट करते हैं।

अक्रमकथनेन यत प्रोत्सहमानो ऽतिदूरमपि शिष्य. ।
.अपदेऽपि सम्प्रतृप्त प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९॥

अन्वय –यतः तेन दुर्मतिना अक्रमकथनेन अतिदूर प्रोत्सहमानः अपि शिष्य अपदे सप्रतृप्त प्रतारित भवति।

सत्रार्थ—क्योंकि उस दुर्बुद्धि के क्रमभग कथनरूप उपदेश करने से अत्यन्त दूरतक उत्साहमान् हुआ भी शिष्य तुच्छस्थान मे सन्तुष्ट होकर ठगाया हुआ होता है।

भावार्थ—जिस शिष्य का उत्साह मोक्षमार्ग के ग्रहण मे प्रबल था–वह मुनि धर्म को तो न सुनने से ग्रहण न कर सका और श्रावक धर्म को सुनकर उसी से सन्तुष्ट होकर कि जो मोक्ष के लिये अपद है–अस्थान है–ऐसे स्थान मे ही तृप्त होता हुआ उस कुवुद्धि उपदेशक के द्वारा ठगाया गया है और मोक्ष प्राप्ति से दूर हो गया है। इसलिये पहले General रूप से मुनिधर्म का उपदेश करना चाहिये। बाद में Exceptional cases के लिये श्रावक धर्म का उपदेश करना चाहिये जैसा कि इस ग्रथ मे दिखलाया गया है। यह श्रावकाचार का ग्रंथ होते हुये भी गुरु महाराज ने पहले पांचों पापों के सर्वथा त्याग की ही शिक्षा दी है। फिर एकदेश त्याग की आज्ञा दी है।

अब यह कहते हैं कि जिसमे अपने परिणामों की कमजोरी के कारण सर्वथा निवृत्ति रूप इस मुनिदशा को ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं है—उसे अपने को सर्वथा धर्म का अपात्र समझकर स्वच्छन्द नहीं रहना चाहिये किन्तु जितने अंश मे भी बन सके—उतने अंश मे तो रत्नत्रय को ग्रहण करना ही चाहिये ताकि उतने मोक्षमार्ग का तो वह अधिकारी हो, परम्परा तो मोक्ष को प्राप्त करे।

एव सम्यग्दर्शनवोधचरित्रत्रयात्मको नित्य ।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निपेव्यो यथाशक्ति ॥२०॥

अन्वय —तस्य अपि यथाशक्ति सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मक मोक्षमार्ग नित्य एव निपेव्य भवति।

सूत्रार्थ—उसके लिये भी (जो रत्नत्रय के पूर्ण रूप मुनिधर्म के पालने मे असमर्थ है) शक्ति अनुसार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग (श्रावक धर्म जो रत्नत्रय के एकदेश रूप है) नित्य इस प्रकार पालने योग्य है।

भावार्थ—गुरु महाराज का आदेश (फरमान) है कि यदि पूर्ण रत्नत्रय रूप मुनिधर्म पालने की योग्यता न हो तो जितना बन सके उतना एकदेश रत्नत्रय रूप श्रावक धर्म तो प्रत्येक जीव को आत्महितार्थ इस प्रकार पालना ही चाहिये जैसाकि अब कहा जा रहा है।

दूसरी भूमिका पर प्रश्नोत्तर प्रमाण सूत्र स०

प्रश्न ६—जीव का सामान्यविशेषात्मक स्वभाव बताओ ?

उत्तर—(१) जो चेतनस्वरूप है (२) स्पर्शरसगधवर्ण से रहित अर्थात् अमूर्तिक है (३) सदा अपने गुण पर्यायों को धारण किये रहता है (४) तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है अर्थात् कायम रहता हुवा बदला करता है वह जीव है। (६)

प्रश्न ७—इस स्वभाव को धारणकरनेवाला जीव ग्रनादि से क्या कर रहा है ?

उत्तर—ग्रनादि से भेद विज्ञान के अभाव के कारण अपने ध्रुव स्वभाव को भूलकर ज्ञान का विपरीत परिणमन कर रहा है अर्थात् मोह राग द्वेष आदि विभाव भावों का कर्त्ता भोक्ता बना हुवा है। यही इसकी ससार अवस्था है। (१०)

प्रश्न ८—इसका कारण क्या है ?

उत्तर—इस विभाव भाव को और अपने मूलस्वभाव को एक समझना या इस विभाव भाव को अपने मूलस्वभाव से भिन्न न समझना या केवल इस विभाव जितना ही अपने को समझना और अपने मूल स्वभाव से बिल्कुल अज्ञात रहना—यही इस ससार भ्रमण का कारण है। यही मिथ्यात्व है। ससार का बीज है। (१२, १३, १४)

प्रश्न ९—इससे छूटने का उपाय क्या है ?

उत्तर—अपने मूलस्वभाव को जाने, पहचाने, उसकी श्रद्धा करे तथा उसमे रमणता (स्थिरता) करे। इस विभाव को क्षणिक भाव समझकर सयोगी तत्त्व माने। मूल मेटर से निकल जाने वाला जाने। इस प्रकार का श्रद्धान ज्ञान करके अपने स्वभाव मे स्थिरता के द्वारा इसे निकाले। निकाल कर अपना स्वभाव जो अनन्त चतुष्टय है उसकी पूर्ण प्राप्ति करे—बस उस स्वभाव का प्रगट होना ही इससे छूटने का उपाय है। इसी को पुरुषार्थसिद्ध्युपाय कहते हैं।

(११, १५)

प्रश्न १०—इस उपाय का टूकसार क्या है ?

उत्तर—अपने ध्रुव स्वभाव के विषय मे को दूर करके उसे भले प्रकार जानना यह सम्यग्ज्ञान है—उसका श्रद्धान करना कि वास्तव में मेरा स्वभाव ऐसा ही है—यह सम्यग्दर्शन है और फिर उसी में स्थित होकर उससे चलायमान नहीं होना यह—सम्यक्-

चारित्र है। पानकवत् इन तीनों की एकता का होना और विभाव का अस्तित्व बिलकुल न रहना—बस यही पुरुष की सिद्धि का उपाय अर्थात् मोक्षमार्ग है। (१५)

इसकी पूर्णता को मुनि धर्म कहते हैं और एकदेशता को श्रावक धर्म कहते हैं। मुक्ति तो इसकी पूर्णता में ही है। अतः उसे ही धारण करना चाहिये—पर यदि किसी अटक के कारण या परिणामों की कमजोरी के कारण वैसा न हो सके तो उनके (रत्नत्रय के) एकदेश पालनरूप श्रावकधर्म को तो पालना ही चाहिये। (१६ से २० तक)

दूसरी भूमिका समाप्त हुवी।

अगली विषय-सूची

आगे इस ग्रंथ में निम्नाङ्कित विषयों का निरूपण किया गया है—

नोट—अब पुरुष (आत्मा) की सिद्धि (कैवल्य अवस्था) के उपायभूत रत्नत्रय का क्रमश सविस्तार वर्णन करते हैं। उसके तीन अग है। सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान तथा सम्यक्चारित्र—सो क्रमश. पहले प्रथम अग का कथन करते हैं।

सम्यग्दर्शन का निरूपण

(सूत्र २१ से ३० तक १० जिसमे न० २२ खास है)

सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है

तत्रादौ सम्यक्त्व समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन ।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञान चरित्र च ॥२१॥

अन्वय.—तत्र आदौ अखिलयत्नेन सम्यक्त्व समुपाश्रयणीयं यत. तस्मिन् सति एव ज्ञान च चरित्रं भवति।

सूत्रार्थ—उनमे (रत्नत्रय मे) पहले सम्पूर्ण यत्न से (पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा) सम्यग्दर्शन भले प्रकार आश्रय करने योग्य है क्योंकि उस (सम्यग्दर्शन) के होने पर ही ज्ञान और चारित्र होता है [अर्थात् सम्यग्दर्शन होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति होती है अथवा सम्यग्दर्शन से पहले सब ज्ञान और सब चारित्र मिथ्या रहता है और सम्यग्दर्शन के होने पर वही ज्ञान–सम्यग्ज्ञान और वही चारित्र–सम्यक्चारित्र हो जाता है]।

भावार्थ—इस सूत्र द्वारा आचार्य महाराज ने यह आदेश दिया है कि सबसे पहले सम्यग्दर्शन को ग्रहण करना चाहिये, वही ठीक मार्ग है। यह मार्ग नहीं है कि सम्यग्दर्शन के बिना पहले ज्ञान और चारित्र को अंगीकार किया जाय क्योंकि सम्यग्दर्शन से पहले वह ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग मे स्वीकार नहीं किया गया है। सम्यग्दर्शन होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति होती है अथवा पहले वाला ज्ञान और चारित्र सम्यक् हो जाता है।

यदि हलवा बनाना हो तो पहले आटे को घी मे भूनते हैं फिर चीनी और पानी डालते हैं तो हलवा बनता है। यदि पहले चीनी और पानी डालकर फिर आटा डालोगे तो लप्सी बनेगी–हलवा न बनेगा। इसी प्रकार पहले सम्यग्दर्शन ग्रहण करना चाहिये फिर ज्ञान और चारित्र तब तो मोक्ष की सिद्धि होगी। सम्यग्दर्शन रहित ज्ञान और चारित्र तो केवल बंध करने वाले हैं ऐसा श्री पंचाध्यायी पाचवीं पुस्तक सूत्र नं० १५३७ मे कहा है। उनसे तो संसार ही बनेगा, मोक्ष न बनेगा। ऐसा क्यों ? इसके कारण को स्पष्ट करते हैं—

सम्यग्दर्शन बीजवत् है। ज्ञान चारित्र वृक्षवत् हैं। मोक्ष फलवत् है। जिस प्रकार बिना बीज के वृक्ष न उत्पन्न होता है, न बढ़ता है और न बढ़कर फल देता है। इसलिये पहले बीज की उपासना करनी चाहिये तभी तो वृक्ष और फल लगेंगे–इसी प्रकार सम्यग्दर्शन रूपी बीज

बिना ज्ञान चारित्र रूपी वृक्ष नहीं उगता, न बढता है और न अतीन्द्रिय सुखरूप मोक्षफल को देता है। इसलिये पहले सम्यग्दर्शन रूप बीज की रक्षा करनी चाहिये फिर ज्ञान और चारित्र रूप वृक्ष की–तब केवल ज्ञान रूपी फल लगेगा। 'दसरण मूलो धम्मो'–दर्शन धर्म का मूल है।

जिस प्रकार समुद्र से पार जाने के लिये नाव काम देती है। नाव मे बैठकर तिरते हैं पर उस नाव के चलाने वाला नाविक यदि न हो तो वह नाव नहीं तार सकती–उसी प्रकार ससार सागरवत् है। ज्ञान चारित्र नौकावत् हैं जो तारते हैं किन्तु सम्यग्दर्शन खेवटिया है जो ज्ञान चारित्र की नौका को पार ले जाता है। अत पहले नाविक हो तभी तो नाव चलेगी–उसी प्रकार पहले सम्यग्दर्शन हो तभी तो ज्ञान चारित्र मोक्ष की ओर चलेंगे अन्यथा नहीं। इसलिये गुरु महाराज कहते हैं कि हे भव्यो! पहले सम्पूर्ण पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन को आश्रय करो क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र होते हैं। बिना सम्यग्दर्शन के ज्ञान चारित्र होते ही नहीं। क्यों नहीं होते? इसका उत्तर यह है कि निज तत्त्व (ध्रुव स्वभाव) के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं और उसके जानने और स्थिरता को ज्ञान चारित्र कहते हैं। जब मूल तत्त्व की ही श्रद्धा नहीं तो जानेगा क्या और ठहरेगा कहा? इसलिये सबसे पहले निज तत्त्व की (अपने मूल स्वभाव की) श्रद्धा करो। फिर ज्ञान चारित्र की सेवा करना।

सम्यग्दर्शन का लक्षण (स्वरूप) [यह खास सूत्र है]

जीवाजीवादीना तत्त्वार्थाना सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धान विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूप तत् ॥२२॥

अन्वय—जीवाजीवादीना तत्त्वार्थाना श्रद्धानं सदा एव कर्तव्य। तत् (श्रद्धान) विपरीताभिनिवेशविविक्त आत्मरूप अस्ति।

सूत्रार्थ—जीव अजीव आदि ६ तत्त्वार्थों का श्रद्धान सदा ही करना चाहिये। वह श्रद्धान विपरीत अभिप्राय से रहित आत्मरूप है।

(१) 'तत्त्वार्थानां श्रद्धानं'—का यह भाव है कि आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख आदि गुणों की तरह एक सम्यक्त्व (श्रद्धा) गुण भी है। उसका परिणमन दो प्रकार का होता है एक शुद्धरूप-एक अशुद्धरूप। अशुद्ध परिणमन को मिथ्यादर्शन कहते हैं जिसका लक्षण तत्त्वार्थों में विपरीत श्रद्धा है और शुद्ध परिणमन को सम्यग्दर्शन कहते हैं जिसका लक्षण तत्त्वार्थों की ठीक २ श्रद्धा है। भेदविज्ञान के अभाव के कारण अनादिकाल से जीव अपने विपरीत पुरुषार्थ द्वारा उसकी मिथ्यादर्शन रूप विभाव पर्याय प्रगट करता आ रहा है। सो गुरु महाराज कहते हैं कि हे भव्यो ! अब उस पर्याय को टाल कर तुम्हें तत्त्वों के श्रद्धान रूप श्रद्धा गुण की सम्यग्दर्शन रूप स्वभाव पर्याय को प्रगट करके सम्यग्दृष्टि बनना चाहिये।

(२) 'आत्मरूपं'—का ऐसा भाव है कि वह पर्याय पारिणामिक भाव के स्वभाव परिणमन रूप है। निर्विकल्प है। राग या उपचार, या व्यवहार का लेशमात्र भी उसमे ग्रहण नहीं है। चौथे से सिद्ध तक के सब जीवों को यह श्रद्धा एक जैसी होती है। आत्मरूप-शुद्ध भाव को कहते हैं अर्थात् आत्मा के स्वभाव परिणमन को कहते हैं-राग को नहीं कहते यह ध्यान रहे। लक्षण सूत्रों मे राग का ग्रहण नहीं होता है तथा यह श्रद्धान भूतार्थ नय से होता है अर्थात् पहले अभूतार्थ नय से पर्यायरूप नौ तत्त्वों को जान कर फिर जब भूतार्थ नय की सहायता से उन नौ मे पाये जाने वाले एक त्रिकाली सामान्य (ध्रुव स्वभाव) का आश्रय किया जाता है-तब यह पर्याय प्रगट होती है। अभूतार्थ नय से नौ पदार्थों की परलक्षी रागमिश्रित श्रद्धा तो मिथ्यादृष्टि अभव्य भी करता है। वह कहीं सम्यग्दर्शन नहीं है। यह तो आत्मा का विभाव परिणमन है। केवल नौ तत्त्वों की श्रद्धा तो मिथ्यात्व है। जब उन नौ को जानकर उनमें रहने वाले एकत्वविभक्त स्वभाव का आश्रय करते हैं और पर्याय के नौ तत्त्वों

का ज्ञाता बनते हैं-तब नौ तत्वो का सच्चा श्रद्धान कहलाता है। वही आत्मरूप है। आत्मरूप का भाव ज्यों का त्यों वही है जो श्री समयसार जी सूत्र १३ का है। उसे भी टीका सहित विचारिये। श्री द्रव्यसंग्रह टीका मे सूत्र ४१ मे भी यही भाव हमने दिखलाया है। इसका विशद स्पष्टीकरण हमने ग्रन्थराज श्री पचाध्यायी चौथी पुस्तक सूत्र ९५७ की टीका मे पन्ना ५५७ से ५६५ तक किया है तथा पाचवीं पुस्तक मे सूत्र ११४३ से ११५३ तक किया है। अतः अब अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं रही। उन्हे एक बार पुनः पढ़ने से इसका भाव आपको अवश्य झलक जायेगा।

(३) 'विपरीताभिनिवेशविविक्त'—का भाव यह है कि यह श्रद्धान विपरीत अभिप्राय से रहित होता है। किसी भी प्रयोजनभूत तत्व के विषय मे रचमात्र भी विपरीत अभिप्राय नहीं रहता। विपरीताभिनिवेश का अर्थ सूत्रकार ने इन शब्दों मे बहुत सुन्दर किया है "सदसतोर्विशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्" अर्थात् सत् (सम्यक्) और असत् (मिथ्या) रूप पदार्थों के विशेष का अर्थात् भेद का श्रद्धान नहीं होने से स्वेच्छारूप यद्वा तद्वा श्रद्धान करने के कारण उन्मत्त (पागल) के समान इनका श्रद्धान होना विपरीताभिनिवेश है। उससे रहित जैसा पदार्थ का स्वरूप है-ज्यो का त्यों श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है जैसे १४ मार्गणा-गुणस्थान-जीवसमास रूप ही जीवतत्त्व की श्रद्धा विपरीताभिनिवेश है और नौ तत्वो मे पाये जाने वाले एकत्वविभक्त (ध्रुवस्वभाव-पारिणामिक भाव) की जीवतत्त्वपने से श्रद्धा विपराभिनिवेश से रहितपना है। औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक भावों की जीवतत्त्व रूप से श्रद्धा विपरीताभिनिवेशयुक्त है किन्तु इनकी अजीवपने से श्रद्धा (पारिणामिक के अतिरिक्त सब कुछ अजीव-ऐसी श्रद्धा) विपरीत अभिप्राय से रहित है। अशुभ भाव को आस्रव बध मानना किन्तु सम्यग्दृष्टि के शुभ भाव को सवर निर्जरा मानना विपरीत अभिप्राय

है किन्तु शुभाशुभ दोनों भावो को आस्रव बंध तत्त्व मानना और केवल वीतरागविज्ञानता को ही संवर निर्जरा मानना तत्त्व का ठीक श्रद्धान है। इसी प्रकार निमित्त के कारण उपादान मे विलक्षणता मानना विपरीत अभिप्राय है किन्तु उपादान का स्वकाल की योग्यता से परिणमन मानना और योग्य निमित्त की उपस्थिति मानना ठीक श्रद्धान है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रयोजनभूत तत्त्वों के विषय मे सम्यग्दृष्टि का श्रद्धान विपरीत अभिप्राय रहित ही होता है ऐसा यहा गुरु महाराज का आशय है।

उपर्युक्त सूत्र खालिस असली (निश्चय) सम्यग्दर्शन का है। इस सूत्र मे व्यवहार का जरा भी ग्रहण नहीं है।

(१) नि शकित अग

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्त वस्तुजातमखिलज्ञै ।
किमु सत्यमसत्य वा न जातु शकेति कर्त्तव्या ॥२३॥

अन्वय —अखिलज्ञै इद सकल वस्तुजात अनेकान्तात्मक उक्त। किमु सत्य वा असत्यं इति शका जातु न कर्त्तव्या।

सूत्रार्थ—सर्वज्ञों द्वारा यह सम्पूर्ण वस्तु समूह (छ' द्रव्यों का समुदाय) अनेकान्तात्मक कहा गया है। क्या वह कथन सत्य है या असत्य ? ऐसी शका कदापि नहीं करनी चाहिये।

भावार्थ—ग्रन्थराज श्री पचाध्यायी की दूसरी पुस्तक में बता चुके हैं कि जगत् का प्रत्येक सत् अस्ति-नास्ति, तत्-अतत्, नित्य अनित्य, एक-अनेक, इन चार युगलों से गुम्फित है। ये धर्म क्योंकि स्थूल दृष्टि से परस्पर विरोधी दीखते हैं, अत. अन्य मतियों को उन पर विश्वास नहीं है। अतः उन्हें वस्तु अनेकान्त रूप न दीखकर एकान्तरूप दीखती है। सो गुरु महाराज कहते हैं कि आपको यह शका कदापि नहीं होनी चाहिये कि ऐसा है भी या नहीं क्योंकि वस्तु सामान्य-

विशेषात्मक होने से-ये चार युगल परस्पर विरोधी दीखने पर भी वस्तु मे बराबर अविरोध रूप से पाये ही जाते हैं। इस प्रकार सत् के स्वत सिद्ध अनेकान्तात्मक स्वभाव मे किसी प्रकार की शका का न होना अर्थात् वस्तु (द्रव्य) स्वभाव मे किसी प्रकार की शका न होना सम्यग्दृष्टि का नि शंकित* अग है।

(२) निःकाक्षित अग

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकांक्षेत् ॥२४॥

अन्वयः—इह जन्मनि विभवादीनि अमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन् च एकान्तवाददूषितपरसमयान् अपि न आकाक्षेत्।

सूत्रार्थ—(१) इस जन्म मे स्त्री पुत्र धन धान्य आदि सपत्तियों की और परलोक मे चक्रवर्ती नारायण इन्द्र आदि के पदों की इच्छा न करे तथा (२) एकान्तवाद से दूषित अन्य धर्मों को भी न इच्छे।

भावार्थ—(१) सम्यग्दृष्टि को वस्तु स्वरूप का भान है। वह जानता है कि इह लोक और परलोक के सब वैभव साता के उदय आधीन हैं। कहीं इच्छा के आधीन नहीं हैं। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है। दूसरे वह यह भी जानता है कि ये सयोगी पदार्थ हैं। कर्मकृत हैं। पराधीन

---

*अन्यमत इसीलिये सोलह आने खोटे हैं कि वे पदार्थ को एक धर्म रूप मानते हैं जो प्रत्यक्ष बाधित है। उस दशा मे सत् से किसी कार्य की सिद्धि ही नही होती। इसका कारणो सहित स्पष्ट विवेचन करना इस चरणानुयोग शास्त्र का कार्य नही है। इसके लिये ग्रन्थराज श्री पचाध्यायी दूसरो पुस्तक सर्वोत्तम है। उसमे हमने सविस्तार वस्तु को अनेकान्तात्मक सिद्ध किया है तथा एकान्तात्मक वस्तु का हेतुपूर्वक खण्डन भी किया है। वस्तु के अनेकान्तात्मक ख्याल मे न आने से मूल पदार्थ का ही नाश हो जाता है।

हैं। इनका वियोग अवश्यभावी है। अत क्षणिक वस्तु मे काहे की इच्छा। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को इह जन्म या परजन्म सम्बन्धी विषय सामग्री मे सुख की अभिलाषा का अभाव होने से इच्छा का अभाव है (२) सम्यग्दृष्टि को 'सत्' का परिज्ञान होता है। वह जानता है कि जगत् का प्रत्येक सत् अस्ति-नास्ति, तत्-अतत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक इन चार युगलों मे गुम्फित है। अत इसके विपरीत वस्तु को सर्वथा अस्ति या नास्तिरूप, नित्य या अनित्य रूप, तत् या अतत् रूप, एक या अनेकरूप मानने वाले सिद्धान्त एकान्त मान्यता से दूषित हैं। वस्तु स्वरूप वैसा नहीं है। अत वह अन्य सिद्धान्तों की स्वप्न मे भी इच्छा या प्रशसा नहीं करता। यह सम्यग्दृष्टि का नि कांक्षित अग है जो प्रत्येक ज्ञानी मे स्वभाव मे विना किसी प्रयत्न के पाया ही जाता है।

(३) निर्विचिकित्सा अग

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥२५॥

अन्वय – क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु पुरीषादिषु द्रव्येषु विचिकित्सा न एव करणीया।

सूत्रार्थ—(१) भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी इत्यादि नाना प्रकार की अवस्थाओं मे तथा (२) विष्टा आदिक पदार्थों मे ग्लानि नहीं ही करनी चाहिये।

भावार्थ—(१) सम्यग्दृष्टि को वस्तु स्वभाव का परिज्ञान है। वह जानता है कि जगत् का प्रत्येक पदार्थ अपने स्वत. सिद्ध स्वभाव मे वर्त रहा है। ग्लानि का कोई अवकाश ही नहीं। इसलिये उसको विष्टा आदि घिनावने पदार्थों मे भी ग्लानी या द्वेष नहीं होता। वह उनका ज्ञाता दृष्टा ही रहता है। यह व्यवहार निर्विचिकित्सा है। (२) तथा अपने में जो भूख प्यास गर्मी सर्दी की वाधा का अनुभव होता है वह जानता है कि ये शरीर के धर्म (परभाव) हैं। इनका मेरा अत्यन्ता-

भाव है। तथा शरीर की इन रूप अवस्थाओं के कारण जो मुझ में विकल्प होता है वह इनके कारण से नहीं किन्तु वह मेरी स्वरूप की अस्थिरता के कारण है और उसका भी ज्ञानी ज्ञाता है। अत. सम्यग्दृष्टि को भूख प्यास आदि भावों मे भी आकुलता व्याकुलता नहीं होती। वह तो केवल उनका ज्ञाता ही है। यह सम्यग्दृष्टि की निश्चय निर्विचिकित्सा (ग्लानि रहितता) है।

(४) अमूढदृष्टित्व अग

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥२६॥

अन्वय —लोके, शास्त्राभासे, समयाभासे, च देवताभासे, तत्त्व-रुचिना नित्य अपि अमूढ़दृष्टित्व कर्तव्यम्।

सूत्रार्थ —लोक व्यवहार मे (लोक मूढ़ता मे), शास्त्राभास मे, धर्माभास मे, देवताभास मे और चकार से तत्त्वाभास मे, आज्ञाभास में, गुर्वाभास मे अथवा धर्म के किसी भी अङ्गाभास मे तत्व मे रुचि रखने वाले सम्यग्दृष्टि को सदा ही अमूढदृष्टिपना (मूर्खता रहितपना-लक्षण पूर्वक निरीक्षणता) करना चाहिये।

भावार्थ—(१) अरहन्त सिद्ध ही देव है क्योंकि सर्वज्ञ वीतराग ही देव होता है। जिन देवों के पास राग का चिन्ह स्त्री और द्वेष का चिह्न शस्त्र है वे देवताभास हैं। इस लक्षण से वह देवताभास मे मूढ़ नहीं है। (२) छठे से बारहवें गुणस्थानवर्ती दिगम्बर भावलिंगी आचार्य उपाध्याय साधु ही गुरु हैं क्योंकि रत्नत्रय के धारक, विषय-कषाय-आरम्भ-परिग्रह से रहित, तथा ज्ञान ध्यान और तप में लीन ही गुरु होते हैं। जिन गुरुओं के अन्तरङ्ग मे राग द्वेष और बाह्य में वस्त्र, धन, धान्यादि परिग्रह से प्रीति है-वे गुर्वाभास हैं। इस लक्षण से वह गुर्वाभास मे मूढ़ नहीं है। (३) निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही

वास्तव मे धर्म है क्योंकि मोह क्षोभरहित आत्मा का परिणाम ही धर्म है। व्यवहार दर्शन ज्ञान-चारित्र उपचार से धर्म है। जो वाहर से धर्म दीखते हैं किन्तु वास्तव मे मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा विषय कषाय के पोषक हैं—वे धर्माभास हैं। इस लक्षण से वह धर्माभास मे मूढ़ नहीं है। (४) सर्वज्ञ वीतराग की दिव्यध्वनि द्वारा निरूपित अनेकान्तात्मक तत्त्व का उपदेश करनेवाला ही सच्चा शास्त्र है—वही प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणों से सिद्ध है। पूर्वापर विरोधरहित है। शेष एकान्तवाद से दूषित सब शास्त्राभास हैं। इस लक्षण से वह शास्त्राभास मे मूढ नहीं है। (५) लोक मे धर्म समझकर जितने अविचारित कार्य किये जाते हैं—उनमे भी सम्यग्दृष्टि धर्म नहीं मानता है। अत. लोकाचार मे भी वह मूढ नहीं है। इसी प्रकार चकार से आप्ताभास मे—तत्त्वाभास मे या धर्म के किसी भी अंगाभास मे वह मूढ नहीं है। वह क्यों मूढ नहीं है ? उसके लिये उसका एक विशेषण दिया है कि वह तत्त्वरुचिवाला जीव ही नियम से होता है अर्थात् देव, गुरु, धर्म, आप्त, आगम, तत्त्व, लोकव्यवहार इत्यादि प्रत्येक तत्त्व को लक्षण सहित जानता है। उसको लक्षण सहित ही तत्त्व के जानने की स्वाभाविक रुचि रहती है। व्याप्ति-अतिव्याप्ति तथा असभव दोष रहित प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप को लक्षण, प्रमाण, नय, आदि की कसौटी पर कस कर परीक्षापूर्वक निर्णय करके ही श्रद्धान करता है। अत. उसमे तत्त्व संबधी मूढता* रचमात्र भी नहीं होती।

(५) उपबृंहण अङ्ग (उपगूहण अग)

धर्मोऽभिवर्द्धनीय. सदात्मनो मार्दवादिभावनया ।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥२७॥

---

*इसका विशेष स्पष्टीकरण हम श्री रत्नकरण्ड० सूत्र १४ तथा २२, २३, २४ की टीका मे कर चुके हैं। वही सब भाव ज्यों का त्यों यहा है। कृपया उसे एक वार पुन पढ़िये—तो ऊपर के सूत्र का सब भाव आपको दर्पणवत् झलक जायेगा।

अन्वय —उपवृंहणगुणार्थं मार्दवादिभावनया सदा आत्मन धर्म अभिवर्द्धनीय । परदोषनिगूहन अपि विधेयम् ।

सूत्रार्थ—उपवृंहण गुण के लिये मार्दव आदि भावना से सदा अपनी आत्मा का धर्म बढाने योग्य है और दूसरे के दोषों को ढांकना भी योग्य है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन के इस अग को अस्ति से (निश्चय से) उपवृंहण कहते हैं और नास्ति से (व्यवहार से) उपगूहन कहते हैं । अपनी आत्मा के क्षमा, मार्दव, आर्जव, आदि गुणों मे अर्थात् निश्चय रत्नत्रय मे–शुद्ध भावों मे वृद्धि करना उपवृंहण है और दूसरे के दोषों का प्रगट न करना उपगूहन है ।

(६) स्थितिकरण अग

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेपु वर्त्मनो न्यायात् ।
श्रुतमात्मन परस्य च युक्त्या स्थितिकरण अपि कार्यं ॥२८॥

अन्वय —कामक्रोधमदादिपु न्यायात् वर्त्मन. चलयितु उदितेपु आत्मन परस्य च श्रुत युक्त्या स्थितिकरण अपि कार्यं ।

सूत्रार्थ—मैथुन के भाव, क्रोध मान माया लोभ आदि के भाव-जीव को न्यायरूप जो धर्ममार्ग–उस से भ्रष्ट करने को प्रगट होने पर–अपने को और दूसरे जीवों को शास्त्र अनुसार युक्ति द्वारा फिर उसी न्याय रूप धर्ममार्ग मे स्थिर करना भी सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य है ।

भावार्थ—जब अपना भाव निश्चय रत्नत्रय से डिगे–तो अपने को उसमे स्थित करना चाहिये और जब अपना भाव अनन्तानुबंधी कषाय द्वारा नीति न्याय रूप व्यवहार मार्ग से डिगने लगे–तो तुरन्त उन परिणामों को तोडकर अपने परिणामों को सुधार कर न्यायमार्ग मे लगाना चाहिये–यह तो स्वस्थितिकरण है । और जब इन ही कारणों से किसी दूसरे धर्मात्मा के परिणाम डिगते देखे–तो उसे भी यथाशक्ति

शास्त्रानुसार उपदेश देकर समझा बुझाकर धर्ममार्ग मे ही स्थित करे-यह पर प्रभावना है।

गुरु महाराज समझाते हैं कि जीव धर्म से कब डिगता है ? या तो परिणामों मे वेद व पाप की तीव्र इच्छा होती है तो परस्त्री, मा, बहिन, बेटी को नहीं गिनता। या लोभ कषाय आ जाता है तो गर्वनमेंट का टैक्स रखने का या अन्याय से किसी का हक दवाने का भाव आ जाता है। या कभी मान मे आकर दूसरे को केवल नीचा दिखाने के भाव से हिंसादि करने पर उतारु होजाता है या कभी अपना अनिष्ट करनेवाले पर इतना क्रोधित होता है कि उसकी जान तक लेने पर तुल जाता है तो गुरु महाराज समझाते हैं कि जब कभी अपने में या दूसरे मे ऐसा अवसर आ पडे तो तुरन्त शास्त्र ज्ञान रूपी शस्त्र से काम लेना चाहिये और अपने को या पर को शास्त्र युक्तियों द्वारा समझाना चाहिए कि हे आत्मन् ! इन मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम करते २ और उनका फल नरक निगोद आदि भोगते २ तो अनन्तकाल चला गया-अब भी तेरा मन नहीं भरा ? क्या अभी भी कुगतियों मे भ्रमण की इच्छा है ? तू तो शास्त्रपाठी है। यह शास्त्रज्ञान और क्या काम आयेगा-सब पढा पढाया व्यर्थ हो जायेगा-इत्यादि रूप से अपने को या दूसरे को समझाकर तुरन्त धर्ममार्ग मे स्थिर करना चाहिये-यही स्थितिकरण अग है।

(७) वात्सल्य अग

अनवरतमहिंसाया शिवसुखलक्ष्मीनिवधने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परम वात्सल्यमालम्ब्यम् ॥२६॥

अन्वय – शिवसुखलक्ष्मीनिवन्धने अहिंसाया धर्मे च सर्वेषु अपि सधर्मिषु अनवरत परम वात्सल्य आलम्ब्यम्।

सूत्रार्थ—मोक्ष सुख रूपी लक्ष्मी को कारणभूत अहिंसामयी धर्म मे (अर्थात् शुद्ध रत्नत्रय मे) और सब धर्मात्माओं में भी निरन्तर उत्कृष्ट प्रीति करनी चाहिये।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि की प्रीति विषय कषाय मे या विषयी कषायी जीवों मे नहीं होती। उनसे तो उसे उपेक्षा होती है चाहे वे अपने सगे कुटुम्बी या घरवाले ही क्यों न हो। उसकी परम प्रीति तो अतीन्द्रिय सुख रूप मोक्ष को कारणभूत शुद्ध रत्नत्रय मे होती है। यह निश्चय वात्सल्य है अथवा उसकी प्रीति उस शुद्ध रत्नत्रय के धारी चौथे से सिद्ध तक के जीवों मे होती है–यह व्यवहार वात्सल्य है।

(८) प्रभावना

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्म ॥३०॥

अन्वय—रत्नत्रयतेजसा आत्मा सतत एव प्रभावनीय च दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैं जिनधर्म सतत एव प्रभावनीय।

सूत्रार्थ—रत्नत्रय तेज से तो अपनी आत्मा सदा ही बढाने योग्य है और दान तप जिनपूजा विद्या (शास्त्र ज्ञान) की बढ़वारी द्वारा जैन धर्म सदा ही प्रभावनायुक्त करने योग्य है।

भावार्थ—प्रभावना नाम बढ़ाने का है। अपने मे तो सदा निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों (शुद्ध भावों) की वृद्धि करनी चाहिये। यह निश्चय प्रभावना है और बाहर मे दान के माहात्म्य से, तप के माहात्म्य से, जिनपूजा प्रतिष्ठा मन्दिर निर्माण आदि कार्यों द्वारा, अथवा शास्त्र प्रवचन-शास्त्र निर्माण द्वारा, जैन धर्म भी जनता मे सदा प्रभावयुक्त करना योग्य है। यह सम्यग्दृष्टि की व्यवहार प्रभावना है।

सम्यग्दर्शन पर प्रश्नोत्तर प्रमाण सूत्र स०

प्रश्न ११—सम्यग्दर्शन का स्वरूप तथा फल क्या है?

उत्तर—जीवाजीवादि तत्त्वों का जो विपरीत अभिप्राय रहित अर्थात् भाव भासन सहित श्रद्धान है–वह सम्यग्दर्शन है। यह शुद्ध भाव है। यही प्रथम आश्रय करने योग्य है क्योंकि इसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र होता है। (२१, २२)

प्रश्न १२—नि शकित अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर—सम्पूर्ण वस्तु समूह के (सत् के) अनेकान्तात्मक होने मे शका न होना नि शकित अग है। (२३)

प्रश्न १३—नि कांक्षित अग किसे कहते हैं ?

उत्तर—इस जन्म मे लौकिक सम्पत्ति की और परलोक मे चक्रवर्ती तथा नारायणादि पदों की अर्थात् इन्द्रियसुख की इच्छा न करना तथा एकान्तवादी अन्यमतों की अच्छा न करना या उन्हें सच्चा न समझना नि.कांक्षित अग है। (२४)

प्रश्न १४—निर्विचिकित्सा अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर—भूख प्यास गर्मी सर्दी आदि शरीराश्रित भावों मे आकुलता न मानना निश्चय निर्विचिकित्सा है तथा विष्टादि द्रव्यों का वैसा ही स्वभाव जानकर उनमे घृणा न करना व्यवहार निर्विचिकित्सा है। (२५)

प्रश्न १५—अमूढदृष्टि अग किसे कहते हैं ?

उत्तर—लोकाचार मे, अन्य आगमों मे, अन्यधर्मों में अन्यदेवताओं मे या धर्म के अन्य किसी भी अंग मे मूढता न होना किन्तु प्रत्येक का स्वरूप लक्षण तथा परीक्षापूर्वक दिगम्बर परम्परानुसार जानना सम्यग्दृष्टि का अमूढदृष्टि अग है। (२६)

प्रश्न १६—उपबृंहण गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर—आत्मा के क्षमा मार्दव आदि १० धर्मों का सदा बढ़ाना उपबृंहण अग है तथा दूसरे के दोषों का छुपाना यही नास्ति से उपगूहन अंग है। (२७)

प्रश्न १७—स्थितिकरण अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर—वेद-क्रोध-मान-माया-लोभ आदि भावों की अपने में उत्पत्ति होने पर ज्ञानशक्ति से उसको तोड़कर पुनः न्यायमार्ग पर अपने को

आरूढ़ करना निश्चयस्थितिकरण है तथा दूसरे मे भी यदि ऐसा होता देखे तो शास्त्र उक्ति से समझा बुझाकर पुन सद्मार्ग मे लगाना परस्थितिकरण या व्यवहार स्थितिकरण अग है। (२८)

प्रश्न १८—वात्सल्य अग किसे कहते है ?

उत्तर—मोक्ष के कारणभूत अहिंसामयी धर्म मे अर्थात् शुद्ध रत्नत्रय मे परम प्रतीति निश्चय वात्सल्य है तथा रत्नत्रयधारी जीवो मे निरन्तर परम प्रतीति का होना व्यवहार वात्सल्य अग है। (२९)

प्रश्न १९—प्रभावना अग किसे कहते हैं ?

उत्तर—निरन्तर अपनी आत्मा को रत्नत्रय से प्रभावित करना निश्चय प्रभावना अग है और ज्ञान-दान-तप-पूजादि के अतिशयों से जिन-धर्म को प्रभावित करना व्यवहार प्रभावना अग है। (३०)

सम्यग्दर्शन का निरूपण समाप्त हुवा

सम्यग्ज्ञान का निरूपण

(सूत्र ३१ से ३६ तक ६ जिनमे न० ३५ खास है)

सम्यग्ज्ञान को धारण करने की प्रेरणा

इत्याश्रितसम्यक्त्वै सम्यग्ज्ञान निरूप्य यत्नेन ।
आम्नाययुक्तियोगै समुपास्य नित्यमात्महितै. ॥३१॥

अन्वय —इति आश्रितसम्यक्त्वै आत्महितै. आम्नाययुक्तियोगै यत्नेन सम्यग्ज्ञान निरूप्य नित्यं समुपास्य ।

सूत्रार्थ—इस प्रकार आश्रय कर लिया है को जिन्होने ऐसे, तथा आत्महितैषी (आत्महित मे तत्पर) पुरुषों द्वारा, गुरुपरम्परा तथा लक्षण प्रमाण नय आदि द्वारा, बडे यत्न से सम्यग्ज्ञान को निर्णय करके फिर भले प्रकार वह सदा उपासना करने योग्य है

दर्शाऊ एकविभक्त उसको आत्म के निज विभव से ।
दर्शाऊ तो प्रमाण करना स्वानुभव प्रत्यक्ष से ॥५॥

श्रद्धा और ज्ञान भिन्न २ गुण हैं

पृथगाराधनमिष्ट दर्शनसहभाविनोपि बोधस्य ।
लक्षणभेदेन यतो नानात्व सभवत्यनयो ॥३२॥

अन्वय —बोधस्य दर्शनसहभाविन अपि पृथक् आराधन इष्ट यत. अनयो लक्षणभेदेन नानात्व सभवति ।

सूत्रार्थ—सम्यग्ज्ञान का, सम्यग्दर्शन के साथ उत्पन्न होने पर भी, पृथक् ही आराधन करना ठीक है क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यक्-ज्ञान इन दोनों मे लक्षणभेद से भिन्नता है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन का लक्षण 'तत्त्वार्थश्रद्धान' है । आत्मा मे यह भिन्न गुण है और सम्यग्ज्ञान का लक्षण 'तत्त्वार्थनिर्णय' है । यह आत्मा मे भिन्न गुण है । यद्यपि इन दोनों गुणों का सम्यक् परिणमन एक साथ होता है फिर भी इनका गुण, लक्षण तथा पर्याय रूप कार्य भिन्न २ हैं । अतः ज्ञानियों को इनकी अलग २ ही आराधना करनी चाहिये । दोनों मोक्षमार्ग के भिन्न २ अग हैं क्योंकि "सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग." में दोनो का भिन्न २ ग्रहण है ऐसा गुरु महाराज का आशय है ।

सम्यक्त्व और ज्ञान मे कारण कार्य भाव

सम्यग्ज्ञान कार्य सम्यक्त्व कारण वदन्ति जिना ।
ज्ञानाराधनमिष्ट सम्यक्त्वानन्तर तस्मात् ॥३३॥

अन्वय —जिना सम्यक्त्व कारण सम्यग्ज्ञान कार्य वदन्ति । तस्मात् सम्यक्त्वानन्तर ज्ञानाराधन इष्ट ।

सूत्रार्थ—(यद्यपि दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं फिर भी) जिनेन्द्रों का यह फर्मान है कि सम्यग्दर्शन कारण है और कार्य

है। इसलिये पहले सम्यग्दर्शन रूप कारण की आराधना करनी चाहिये और फिर उसके कार्यभूत सम्यग्ज्ञान को आराधना करनी चाहिये।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति से पहले शास्त्र आधार से ग्यारह अग तक का ज्ञान हो जाता है पर वह मिथ्या ज्ञान ही रहता है, वध करने वाला ही रहता है। संवर निर्जरा मे (मोक्षमार्ग मे) कारण नहीं वन पाता किन्तु सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होते ही वह ज्ञान 'सम्यक्' हो जाता है और उसका गमन मोक्ष की ओर होता है। सवर निर्जरा में कारण वनता है। इसलिये भगवान की यही आज्ञा है कि पहले सम्यग्दर्शन की सेवा करो और फिर सम्यग्ज्ञान की। यही अनादि गुरु परम्परा है और वस्तु का स्वभाव भी ऐसा ही है और इष्ट फल की सिद्धि भी इसी प्रकार होगी। इसका कारण यह है कि सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है। कारण की उपासना पहले की जाती है। कार्य की उपासना वाद में की जाती है।

कारण कार्य भाव की सिद्धि

कारणकार्यविधान समकाल जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥३४॥

अन्वय—सम्यक्त्वज्ञानयो समकाल जायमानयो अपि दीप-प्रकाशयो. इव कारणकार्यविधान हि सुघट।

सूत्रार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों के एक समय में (युगपत्) उत्पन्न होने पर भी दीप और प्रकाश के समान कारण और कार्य की विधि भले प्रकार घटित होती ही है।

भावार्थ—कोई यह कहे कि क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं। अत. दो नहीं—एक ही हैं अथवा एक साथ उत्पन्न होने वालों में कारण कार्य विधान नहीं होता तो कहते हैं कि एक साथ उत्पन्न होने वाली चीजें एक ही हो जायें या उनमें कारण कार्य

विधान न हो यह कोई नियम नहीं है। दीपक का जलना और प्रकाश का होना दोनों की उत्पत्ति का एक समय है पर दीपक रूप कारण के जलने पर ही प्रकाश रूप कार्य होता है। इस प्रकार दोनों का उत्पत्ति समय एक है पर दोनों भिन्न २ वस्तुयें हैं और उनमे कारण कार्य भी है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन रूपी दीपक जलने पर ही सम्यग्ज्ञान रूप प्रकाश आत्मा मे होता है। दोनों का उत्पत्ति समय भी एक ही है पर फिर भी दोनों भिन्न २ गुण हैं और उनमे कारण कार्य का विधान भी सुसगत बैठता है। प० दौलतराम जी ने इसी पर से 'छहढाला' का यह काव्य रचा है:—

सम्यक् साथे ज्ञान होय पै भिन्न आराधो।
लक्षण श्रद्धा, जान दुहू मे भेद अबाधो॥
सम्यक् कारण जान ज्ञान कारज है सोई।
युगपत् हेतु हो प्रकाश दीपक ते होई॥

सम्यग्ज्ञान का लक्षण (स्वरूप) [खास सूत्र है]

कर्त्तव्योऽध्यवसाय सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
सशयविपर्य्यनध्यवसायविविक्तमात्मरूप तत्॥३५॥

अन्वय —सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु अध्यवसाय. कर्तव्य तत् सशयविपर्ययानध्यवसायविविक्त आत्मरूप (अस्ति)।

सूत्रार्थ—सदानेकान्तात्मक तत्त्वों मे जानपना (सम्यग्ज्ञान) करना योग्य है। वह जानपना (सम्यग्ज्ञान) सँशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रहित होता है और आत्मा का रूप है अर्थात् राग रहित है। शुद्ध भाव है।

(१) 'सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु' का ऐसा भाव है कि सत्-द्रव्यपर्यायमय है। अतः जीवादि ६ तत्त्वों को जानते समय उनको पर्याय निरपेक्ष द्रव्य या द्रव्यनिरपेक्ष पर्याय करके कभी नहीं जानना चाहिये-वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। यह बराबर ध्यान रहे।

इसमे भूल हो जाने से ज्ञान मे सोलह आने की भूल हो जाती है। अत: सम्यग्ज्ञान की यही पहचान है कि उस ज्ञान मे तत्त्व अनेकान्तात्मकता को लिये हुवे आवे क्योंकि सत् स्वयं सिद्ध अनेकान्तरूप है। यह दूसरी बात है कि कहीं प्रयोजनवश पर्याय को गौण कर द्रव्य का निरूपण करते हैं तथा कहीं द्रव्य को गौण करके पर्याय का निरूपण करते हैं पर ज्ञानियों के ज्ञान मे उस द्रव्य पर्याय मे सापेक्षता अवश्य बनी रहती है। पर्यायनिरपेक्ष द्रव्य या द्रव्यनिरपेक्ष-पर्याय तो गधे के सींगवत् है। अत सम्यग्ज्ञान का सब से पहला और बड़ा लक्षण तो यही है कि उसमें तत्त्व हर समय अनेकान्तरूप ज्ञान में झलके। न्यायशास्त्रों मे अन्यमतों का खण्डन करने के लिए स्वामी समन्तभद्र तथा श्री अकलंकदेवादि ने तो अनेकान्तात्मक तत्त्व की सिद्धि मे अपना जीवन ही लगा दिया है। आत्मा का अनेकान्त स्वभाव श्री समयसार परिशिष्ट के १४ कलशों मे सर्वश्रेष्ठ है। हम ने ग्रन्थराज श्री पंचाध्यायी दूसरी पुस्तक मे सत् की अनेकान्तात्मकता का खूब दिग्दर्शन कराया है।

(२) 'संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तं' का यह भाव है कि उपर्युक्त अनेकान्तात्मक सम्यग्ज्ञान इन तीन दोषों से रहित ही होता है। जैसे सांख्य सत् को सर्वथा नित्य या बौद्ध सर्वथा अनित्य मानता है—यह ज्ञान मे विपर्ययदोष है। सत् नित्य है या अनित्य इस उलझन मे फंसे रहना—यह संशय दोष है। कैसा भी होगा—हमें क्या ? इस प्रकार सत् के विषय में अज्ञानी बने रहना—कुछ भी निर्णय न करना—अनध्यवसाय दोष है। अथवा अन्य जीवादिक तत्त्वों के विषय में या रत्नत्रय के विषय मे—किसी भी तत्त्व मे इस प्रकार का दोष नहीं होना चाहिए जैसे सम्यग्दर्शन के विषय में यह निर्णय करना कि ' शुभ भाव रूप है'—यह ज्ञान में विपर्यय दोष है क्योंकि ' शुद्ध भाव रूप ही है। 'न शुद्ध'

भाव रूप है या शुभ भाव रूप है–ऐसी उलझन मे ही फंसे रहना और कुछ भी निर्णय न होना यह सशय दोष है। कुछ होगा हमे क्या ? इस प्रकार निर्णय का प्रयत्न न करना–अज्ञानी रहना–यह अनध्यवसाय दोष है। सम्यग्दृष्टि के सम्यग्ज्ञान में किसी भी तत्त्व के विषय मे ये दोष नहीं होते–वह प्रत्येक तत्त्व को लक्षण तथा परीक्षा पूर्वक प्रमाण नय की कसौटी पर कसकर जानता है।

(३) 'आत्मरूप' का यह भाव है कि 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' मे जो ज्ञान मोक्ष के हेतुरूप से ग्रहण किया गया है–वह शब्दरूप या शास्त्रज्ञान रूप या विकल्प (राग) रूप नहीं है–वह तो आत्मरूप है अर्थात् आत्मा के ज्ञानगुण का राग रहित शुद्ध परिणमन है अर्थात् जो ज्ञान सामान्य ज्ञायक के आश्रय से निर्विकल्प (रागरहित) हो गया है–वही ज्ञान मोक्षमार्ग मे सम्यग्ज्ञान रूप से स्वीकार किया गया है। विकल्पात्मक नहीं अर्थात् रागमिश्रित तत्त्वार्थों का परलक्षी ज्ञान नहीं क्योंकि वह तो बंध करने वाला है–ससार का कारण है–उसे तो उपचार से सम्यग्ज्ञान कहते हैं। उपचार का इस सूत्र मे रचमात्र ग्रहण नहीं है यही आत्मरूप लिखने का आशय है। यह सूत्र निश्चय सम्यग्ज्ञान का है जो चौथे से सिद्ध तक सभी जीवों मे पाया जाता है।

सम्यग्ज्ञान के आठ अग

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधान च।
वहुमानेन समन्वितमनिह्नव ज्ञानमाराध्यम् ॥३६॥

अन्वय —ग्रन्थार्थोभयपूर्णं, काले, विनयेन, सोपधानं, च बहुमानेन समन्वित, अनिह्नव, ज्ञान आराध्यम्।

सूत्रार्थ—(१) ग्रंथपूर्णं अर्थात् शब्द की शुद्ध से परिपूर्णं (२) अर्थपूर्णं अर्थात् अर्थ की शुद्धि से परिपूर्णं (३) उभयपूर्णं अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों की शुद्धि से परिपूर्णं (४) काले अर्थात् निर्दोष

(योग्य) काल मे (५) विनयेन अर्थात् विनय सहित (६) सोपधान अर्थात् याद सहित (७) बहुमानेन समन्वित अर्थात् बहुमान सहित (८) अनिह्नव अर्थात् ज्ञान या गुरु को छिपाये बिना—ज्ञान सदा आराधना करने योग्य है।

भावार्थ—इन आठ अगों सहित ज्ञान की आराधना (अभ्यास) करना चाहिये—

(१) शब्दाचार—इसको व्यंजनाचार, श्रुताचार, अक्षराचार ग्रन्थाचार भी कहते हैं। व्याकरण के अनुसार अक्षर, पद, वाक्यों का शुद्ध उच्चारण करना जैसे केवल पाठ करते हैं तो वह शुद्ध करना चाहिये।

(२) अर्थाचार—यथार्थ अर्थ का अवधारण करना जैसे केवल अर्थ विचारते हैं तो वह ठीक विचारना चाहिये।

(३) उभयाचार—शब्द और अर्थ दोनों की शुद्धि करना जैसे अर्थ सहित पाठ पढते हैं तो वह ठीक २ पढना चाहिये।

(४) कालाचार—दूषित कालों को छोडकर अध्ययन के योग्य काल में श्रुत अभ्यास करना चाहिये। गोसर्गकाल, प्रदोषकाल, विरात्रि-काल, दिग्दाह, उल्कापात, इन्द्र धनुष, सूर्यग्रहण, चद्रग्रहण, तूफान, भूकम्प आदि दूषित कालों मे सिद्धांतग्रथों (अङ्गपूर्वों) का पठनपाठन वर्जित है। स्तोत्र, आराधना, धर्मकथादि का पठन-पाठन वर्जित नहीं है।

(५) विनयाचार—नम्रतापूर्वक-निरभिमानतापूर्वक-उद्धतारूप से नहीं। शुद्ध जल से हस्त पादादि प्रक्षालन कर शुद्ध स्थान से पर्यङ्कासन बैठ कर पूज्यबुद्धिपूर्वक नमस्कारयुक्त शास्त्र पठन-पाठन करना अथवा आप शास्त्रमर्मी होकर भी नम्रतापूर्वक रहना, उद्धतरूप न होना।

(६) उपधानाचार—धारणा सहित—स्मरण सहित—यादसहित—स्वाध्याय करना। यह नहीं कि पिछला भूलता जाय और आगे पढता जाय।

(७) बहुमानाचार—ज्ञान, पुस्तक, गुरु, विशेषज्ञानी-इनका यथायोग्य आदर करना। ग्रन्थ को लाते-ले जाते उठ खड़े होना, पीठ नहीं देना, ग्रंथ को उच्चासन पर विराजमान करना, अध्ययन करते समय अन्य वार्तालाप न करना, अशुचि अंग-अशुचि वस्त्रादि का स्पर्श न करना।

(८) अनिन्हवाचार—ज्ञान को वा अपने गुरु को छिपाये बिना। जिस शास्त्र तथा जिस गुरु से शास्त्रज्ञान हुआ हो-उसका नाम न छिपाना। छोटे शास्त्र या अल्प ज्ञानी गुरु का नाम लेने से मेरा महत्व घट जायेगा, इस लिये उनका नाम न लेना और बड़े ग्रंथ या बहुज्ञानी गुरु का नाम अपने नाम की बड़ाई के लिये असत्य ही लेना यह अनिन्हवाचार मे नहीं होता क्योंकि ऐसा करने से मायाचार द्वारा ज्ञान का घात होता है।

सम्यग्दर्शन के आठ अंगों की तरह सम्यग्ज्ञान के भी ये आठ अंग हैं। जिस प्रकार कोई भी वस्तु सांगोपांग ही अच्छी लगती है—उसी प्रकार ज्ञान की सुन्दरता इन अंगों सहित ही है। इन आठ अंगों सहित ही ज्ञानी पुरुषों द्वारा सम्यग्ज्ञान आराधना करने योग्य है। इससे ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ कर शीघ्र इष्टफल की सिद्धि होगी।

सम्यग्ज्ञान पर प्रश्नोत्तर प्रमाण सूत्र स०

प्रश्न २०—सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर—सत् अनेकान्तात्मक तत्त्वों मे संशय विपर्यय तथा अनध्यवसाय रहित, आम्नाय युक्ति तथा अनुभवपूर्वक जानकारी करना सम्यग्ज्ञान है। यह राग रहित आत्मा का शुद्धभाव है। सम्यग्दृष्टि के ही होता है। (३५)

प्रश्न २१—सम्यग्ज्ञान की आराधना किस प्रकार करनी चाहिये ?

प्रश्न—पहले गुरु परम्परानुसार तत्त्वों का नाम सीखे-फिर उनके लक्षण

उत्तर—(१) शब्दाचार (२) अर्थाचार (३) उभयाचार (४) कालाचार (५) विनयाचार (६) उपधानाचार (७) बहुमानाचार (८) अनिह्नवाचार—ये सम्यग्ज्ञान के आठ अग हैं। इनका अर्थ इनके शब्दों से ही प्रगट है। (३६)

सम्यग्ज्ञान का निरूपण समाप्त हुआ।

सम्यक्चारित्र का सामान्य निरूपण

(सूत्र ३७ से ६० तक २४ जिनमे न० ३६ खास है)

सम्यक्चारित्र को धारण करने वालो की पात्रता

विगलितदर्शनमोहै समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थै ।
नित्यमपि नि प्रकम्पै सम्यक्चारित्रमालम्व्यम् ॥३७॥

अन्वय —विगलितदर्शनमोहै [1], समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थै [2], नित्य अपि नि प्रकम्पै [3], सम्यक्चारित्र आलम्ब्यम् ।

सूत्रार्थ–(१) नष्ट हो गया है दर्शनमोह जिन्होंका (२) सम्यग्ज्ञान द्वारा जान लिया है तत्त्वार्थ को जिन्होंने, (३) सदा ही दृढ़चित्त (अपने विचार मे पक्के–जरा सी आपत्ति आने पर डिगने वाले नहीं) ऐसे पुरुषों द्वारा सम्यक् चारित्र अवलम्बन करने योग्य है (ग्रहण करने योग्य है)।

भावार्थ—यहा यह बताया है कि सम्यक्चारित्र किन्हे ग्रहण करना चाहिये सो कहते हैं कि पहली बात तो यह है कि उनका दर्शनमोह गलित होना चाहिये अर्थात् वे तत्त्वश्रद्धानी–सम्यग्दृष्टि होने चाहियें। दूसरे प्रमाणिक ज्ञान द्वारा पदार्थ का निर्णय उन्हे होना चाहिये अर्थात् वे सम्यग्ज्ञानी भी होने चाहियें। तीसरी बात यह है कि बहुत से जीव अपने विचार मे बहुत कच्चे होते हैं। वे दृढचित्त नहीं होते। जरा जरा सी देर मे विचार पलटते रहते हैं। वे सम्यक्चारित्र ग्रहण करने के योग्य नहीं है क्योंकि अभी ग्रहण किया और अभी छोड़ दिया–सो कोई खेल नहीं हैं। सम्यक्चारित्र ग्रहण करने वाला व्यक्ति

अपने विचार का इतना पक्का होना चाहिये कि लाख आपत्तियां भी आयें। करोड़ों उपसर्ग आयें। शरीर के नाश तक का प्रसंग आजाये पर अपने विचार (इरादे की मजबूती) से न डिगे। ये तीन बातें जिनमे हों, वे ही पुरुष सम्यक्चारित्र को धारण करने के पात्र हैं। उन्हें अवश्य अपने आत्महित के लिये सम्यक्चारित्र को दृढ़ता पूर्वक ग्रहण करना चाहिये [उपर्युक्त सूत्र का भाव तथा श्री रत्नकरण्ड सूत्र ४७ का भाव एक ही है]।

ज्ञानी होकर ही चारित्र को ग्रहण करना चाहिये

न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥३८॥

अन्वय.—अज्ञानपूर्वकं चारित्रं सम्यग्व्यपदेशं हि न लभते। तस्मात् ज्ञानानन्तरं चारित्राराधनं उक्तं।

सूत्रार्थ—अज्ञानपूर्वक चारित्र सम्यक् नाम को नहीं पाता। इसलिये सम्यग्ज्ञान के पश्चात् चारित्र का आराधन कहा है।

भावार्थ—यह सूत्र अस्ति नास्ति से ठीक मार्ग क्या है इस पर प्रकाश डाल रहा है। नास्ति से कहते हैं कि बिना सम्यग्ज्ञानी हुये जो चारित्र को अंगीकार भी कर लेते हैं तो उनका चारित्र सम्यक् नाम को प्राप्त नहीं होता। सम्यक्चारित्र नहीं होता—मिथ्या चारित्र ही रहता है अर्थात् संवर निर्जरा नहीं करता, बंध ही करता है। नीचे की पंक्ति मे अस्ति विधि बतलाते हैं कि इसलिये पहले ज्ञानी बनो, और ज्ञान के पश्चात् दृढ़चित्त होकर चारित्र को अंगीकार करो तो वह चारित्र सम्यक्चारित्र होगा। संवर निर्जरा का कारण होता हुआ मोक्ष की सिद्धि करेगा। पहले यह कहा था कि सम्यग्ज्ञान—सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होता है और इसमे यह कहा है कि सम्यक्चारित्र—सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही होता है। ऐसा क्रम है। इसलिये चारित्र दर्शन ज्ञान पूर्वक ही होता है।

सम्यक्चारित्र का लक्षण (स्वरूप) [यह खास सूत्र है]

चारित्र भवति यत समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्त विशदमुदासीनमात्मरूप तत् ।।३९।।

अन्वय --यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् सकलकषायविमुक्त, विशद, उदासीन चारित्र भवति । अत. तत् आत्मरूप (अस्ति) ।

सूत्रार्थ—क्योंकि चारित्र समस्त सावद्ययोग से रहित होने के कारण सकलकषायों से रहित[1], निर्मल[2] और वीतरागता[3] रूप होता है। अत वह आत्मा का रूप है अर्थात् शुद्ध भाव है [शुभ विकल्प या मन वचन काय की क्रिया रूप नहीं है]।

भावार्थ—(१) यह चारित्र का निर्बाध लक्षण है। देखो इसमे मन वचन काय की शुभ क्रियाओ को तो चारित्र कहा ही नहींहै किन्तु शुभ विकल्प को भी चारित्र नहीं कहा है (२) चारित्र का यह कथन पूर्णता की अपेक्षा से है अर्थात् बारहवें गुणस्थान के क्षायिक चारित्र का यहा वर्णन है पर यह लक्षण घटेगा पाचवें से दसवें तक भी उतने अश मे जितना शुद्ध हो गया है और वह शुद्ध अश ही चारित्र कोटि मे है (३) 'सावद्ययोग' यहा केवल पापयोग या अशुभ योग के लिये नहीं आया है किन्तु शुभ अशुभ दोनों योगों के लिये आया है। दोनों को सावद्य योग कहते हैं और समस्त विशेषण लगाने से अबुद्धिपूर्वक कषाय सहित योग प्रवृत्ति को भी हटा दिया है (४) सकलकषायविमुक्त–से आशय बुद्धिपूर्वक अबुद्धिपूर्वक सब राग से रहित का भाव है। बारहवें गुण स्थान की दशा का सकेत है। (५) विशद–निर्मल को कहते हैं। नास्ति से जिसको सकल कषाय रहित कहते हैं–अस्ति से उसी को निर्मल कहते हैं। जैसे कीचड निकल जाने से पानी निर्मल हो जाता है उसी प्रकार चारित्र गुण का जो परिणमन सब कषायों से रहित है वह निर्मल है। स्वभाव परिणमन का सकेत है। (६) उदासीन–मध्यस्थता-वीतरागता समभावता–यह सब पर्यायवाची शब्द हैं। इनका आशय यह है कि शत्रु

मित्र में, काच कञ्चन मे, जीवन मरण मे अर्थात् साता असाता के सयोग वियोग मे जहा सर्वथा ज्ञाता दृष्टापना है। वह चारित्र है (७) आत्मरूप-का यह भाव है कि कोई मन वचन काय की क्रिया को चारित्र कहता हो तो वह भूलता है। कोई शुभ विकल्प रूप १३ प्रकार के चारित्र या २८ मूल गुणों को चारित्र कहता हो तो वह भूलता है। चारित्र तो चारित्र गुण की स्वभाव पर्याय है। मोह क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम है। इस चारित्र के लक्षण मे राग का रचमात्र ग्रहण नहीं है। इसमे यही भाव है जो श्रीद्रव्यसग्रह सूत्र ४६, श्री पचास्तिकाय सूत्र १०६ तथा १५४ मे है या श्रीप्रवचनसार न० २४०, २४१, २४२ मे है।

चारित्र के दो भेद

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मत परिग्रहत. ।
कार्त्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्र जायते द्विविधम् ॥४०॥

अन्वयः—हिंसात' अनृतवचनात् स्तेयात् अब्रह्मत परिग्रहत कार्त्स्न्यैकदेशविरते चारित्र द्विविध जायते।

सूत्रार्थ—हिंसा से, असत्य भाषण से, चोरी से, कुशील से और परिग्रह से सर्वविरति और एकदेशविरति करने से चारित्र दो प्रकार बनता है। (विरति अर्थात् निवृत्ति-छुटकारा-रहितता-त्याग)।

भावार्थ—जो पाच पापों से सर्वथा निवृत्ति रूप है वह तो सकलचारित्र है और जो एकदेश निवृत्तिरूप है वह विकल चारित्र है-पर दोनों निवृत्ति रूप अर्थात् निर्मल शुद्ध भाव रूप हैं-ऐसा यहां आशय है। जिस चारित्र का लक्षण पूर्व सूत्र न० ३९ मे किया है-उसी के यहा दो भेद किये हैं। अत निवृत्ति अश की ओर सकेत है-शुभ प्रवृत्ति अश की ओर नहीं-सो ध्यान रहे क्योंकि यहां वास्तविक कथन है-उपचार कथन नहीं है।

चारित्र के स्वामियो का वर्णन

निरत कार्त्स्न्यनिवृत्तौ भवति यति समयसारभूतोऽय ।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥

अन्वय —तस्या कार्त्स्न्यनिवृत्तौ निरत. अय यति समयसारभूत भवति । या तु एकदेशविरति तस्या निरत उपासक भवति ।

सूत्रार्थ—उस सर्वदेश निवृत्ति मे लवलीन यह मुनि समयसार-भूत है अर्थात् आत्मरूप है और जो एकदेशविरति है उसमे लगा हुआ उपासक (श्रावक) होता है ।

भावार्थ—पूर्व सूत्र में कहा था कि पांच पापों की सपूर्ण निवृत्ति सकल चारित्र है और एकदेशनिवृत्ति विकल चारित्र है । इसमे उन दोनों प्रकार के चारित्र को ग्रहण करने वालों का-स्वामियों का लक्षण निदेश है कि जो सकलविरति को धारण किये है वह तो मुनि है । समयसार रूप है अर्थात् आत्मस्वरूप को प्राप्त है और जो एकदेशविरति को ग्रहण किये हुये हैं वह उपासक है अर्थात् उस सकलविरति का (आत्मस्वरूप प्राप्ति का) इच्छुक है और वर्तमान मे वैसी योग्यता न होने के कारण एकदेशविरति को ग्रहण किये हुये है । इसके भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ चारित्र मे एकदेशशुद्धता तो है ही केवल चारित्र की पूर्णता न होने से यह आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं कहा जाता (श्रद्धा ज्ञान की अपेक्षा तो स्वरूप को प्राप्त है ही) । क्योंकि यहा चारित्र का कथन है । चारित्र की अपेक्षा मुनि को ही आत्मस्वरूप को प्राप्त कहते हैं—श्रावक को नहीं कहते । समयसार रूप भी मुनि को ही कहते हैं—श्रावक को नहीं कहते । सकलविरति मुनि के ही होती है—क्षुल्लक—ऐलक तक के नहीं होती । यह ध्यान रहे कि क्षुल्लक—ऐलक के एकदेशनिवृत्ति ही होती है और उनकी श्रावक सज्ञा ही है-भावलिंगियों की बात है । [उपर्युक्त सूत्र ४०-४१ का भाव तथा श्रीरत्नकरण्ड० सूत्र ४९-५० का भाव एक ही है] ।

पाच पापो का व्यापक लक्षण हिंसा'

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२॥

अन्वय —आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् एतत् सर्वं हिंसा एव । अनृतवचनादि केवलं शिष्यबोधाय उदाहृतं ।

सूत्रार्थ—आत्मा के स्वाभाविक परिणामों को घात करने मे कारण होने से यह (पाच पाप का समुदाय) हिंसा ही है । झूठ वचन आदिक भेद कथन केवल शिष्यों को समझाने के लिये उदाहरण रूप से कहे गये हैं ।

भावार्थ—प्रमत्तयोग हिंसा है और अप्रमत्तयोग अहिंसा है । बस आत्मा दो ही प्रकार के भाव करता है । प्रमत्तरूप या अप्रमत्तरूप । हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पाप तो सब प्रमत्त योग के उदाहरण हैं ताकि शिष्य को यह पता चले कि आत्मा किन २ स्थानों में प्रमत्तयोग करता है अन्यथा तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्रमत्त-योग या हिंसा अधर्म है तथा अप्रमत्तयोग या अहिंसा धर्म है अथवा रत्नत्रय है । अप्रमत्तयोग या अहिंसा पुरुष की सिद्ध का उपाय (मोक्षमार्ग) है और प्रमत्तयोग-पाप या ससार मार्ग है । बस इतना ही तत्त्व का सार है । यह प्रमत्तयोग है क्या ? तो कहते हैं कि राग रूप है--कषाय रूप है--आत्म की शुद्धता को नाश करने वाला विभाव भाव है । हिंसा है । आत्मस्वभाव का खून करने वाला है ।

हिंसा का लक्षण

यत्खलु कषाययोगात्प्राणाना द्रव्यभावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करण सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥

अन्वय —यत् खलु कषाययोगात् द्रव्यभावरूपाणा प्राणाना व्यपरोपणस्य करण—सा सुनिश्चिता हिंसा भवति । (प्रमत्तयोगात् प्राण-व्यपरोपण हिंसा) ।

सूत्रार्थ—वास्तव मे कषाय के सम्बन्ध से जो द्रव्य और भाव रूप प्राणो के घात का करना है वह अच्छी तरह निर्णय की गई हिंसा है।

भावार्थ—यह हिंसा अर्थात् प्रमत्तयोग का लक्षण है कि कषाय के सम्बन्ध से जो अपने या पराये द्रव्य और भावरूप प्राणों का नाश किया जाता है वह हिंसा का अर्थात् अधर्म का लक्षण है। इसका सार इतना ही है कि अपने उपयोग मे राग की उत्पत्ति होना वह तो साक्षात् अपने भाव प्राणों का (चेतना प्राण) का घात है ही, साथ मे यदि अपने या पराये द्रव्य प्राणों का वियोग भी हो जाय तो यह द्रव्यहिंसा कही जाती है। यह बात सब के सब पापों मे पाई जाती है। व्यापक लक्षण है।

अहिंसा तथा हिंसा का लक्षण

अप्रादुर्भाव खलु रागादीना भवत्यहिंसेति।
तेपामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य सक्षेप ॥४४॥

अन्वय—खलु रागादीना अप्रादुर्भाव इति अहिंसा भवति। तेषा एव उत्पत्ति हिंसा भवति इति जिनागमस्य सक्षेप (अस्ति)।

सूत्रार्थ—वास्तव मे राग आदि भावों का प्रगट न होना यह अहिंसा है और उन ही रागादि भावों की उत्पत्ति होना हिंसा है। यही जैन सिद्धात का सक्षिप्त रहस्य है।

भावार्थ—पूर्व सूत्र मे जो द्रव्यप्राणो के नाश को हिंसा कहा था उसको तो गौण कर दिया क्योंकि वह तो व्यभिचार युक्त बात है। जो भाव प्राणों के नाश की बात थी उसको स्पष्ट कर दिया है कि वह क्या चीज है तो उत्तर देते हैं कि उपयोग मे जो राग की उत्पत्ति होना है बस यही हिंसा या भाव प्राणों का घात या प्रमत्तयोग या पांच पाप या अधर्म है और उपयोग मे उस राग की उत्पत्ति न होना-बस यही भावप्राणों की रक्षा-अहिंसा-धर्म-रत्नत्रय-पुरुष की सिद्धि का उपाय या

मोक्षमार्ग है। बस इतना ही जिनेन्द्र भगवान् के आगम का मर्म है। ऊपर यह कहा है कि भाव हिंसा ही हिंसा है। अब यह कहते हैं कि केवल द्रव्य प्राणों की हिंसा वास्तव मे हिंसा नहीं है—

केवल द्रव्यहिंसा हिंसा नहीं है

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥

अन्वय—अपि युक्ताचरणस्य सत रागाद्यावेश अन्तरेण प्राणव्यपरोपणात् एव हिंसा जातु न हि भवति।

सूत्रार्थ—और समितिपूर्वक आचरण करने वाले सत् पुरुष के (मुनि के) रागादि भावों की उत्पत्ति विना केवल द्रव्य प्राणों के वियोग से ही हिंसा रंचमात्र भी नहीं होती है।

भावार्थ—यहा यह बात दिखलाई है कि वास्तव मे भावहिंसा ही हिंसा है। द्रव्यहिंसा हिंसा नहीं है क्योंकि प्रमत्तयोग वाले पुरुष के तो भाव हिंसा होने से द्रव्यहिंसा न भी हो तब तो हिंसा होती है किन्तु समितिपूर्वक कार्य करने वाले मुनि के भावहिंसा का अभाव होने से केवल द्रव्यहिंसा से रचमात्र हिंसा नहीं होती है। जो पूर्व सूत्र मे अहिंसा का लक्षण कहा था, उसी को यहा स्पष्ट कर दिया है और जो हिंसा का लक्षण कहा था उसको अब अगले सूत्र मे स्पष्ट करते हैं।

भाव हिंसा ही हिंसा है

व्युत्थानावस्थाया रागादीना वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुव हिंसा ॥४६॥

अन्वय—रागादीना वशप्रवृत्ताया व्युत्थानावस्थाया जीव म्रियता वा मा। हिंसा ध्रुव अग्रे धावति।

सूत्रार्थ—रागादि भावों के वश में प्रवृत्ति रूप अयत्नाचार-पूर्वक प्रमाद अवस्था मे जीव मरो अथवा न मरो परन्तु हिंसा तो

निश्चित् आगे ही दौडती है (और वध निरन्तर होता ही है)।

भावार्थ—अब यह कहते हैं कि विना समितिपूर्वक कार्य करने मे चाहे जीव न मरो, द्रव्यहिंसा बिलकुल न हो किन्तु अयत्नाचार प्रवृत्ति प्रमाद को सत्ता की द्योतक है। और प्रमाद कषाय है। कषाय ही राग या भावप्राण है। अत द्रव्यहिंसा हो चाहे न हो किन्तु प्रमत्त-योग मे भाव हिंसा और हिंसा का अविनाभावी वध तो होता ही है। अब इसी को सयुक्तिक सिद्धि करते हैं—

यस्मात्सकषाय सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणा तु ॥४७॥

अन्वय —यस्मात् आत्मा सकषाय, सन् प्रथम आत्मना आत्मानं हन्ति। तु पश्चात् प्राण्यन्तराणा हिंसा जायेत वा न।

सूत्रार्थ—क्योंकि जीव कषाय भावो सहित होता हुआ पहले अपने ही द्वारा अपने को घातता है फिर पीछे से चाहे अन्य जीवों की हिंसा होवे अथवा न होवे।

भावार्थ—उपयोग मे कषाय आजाने से अपने ज्ञान दर्शन रूप चेतन प्राणो का घात तो उसी समय हो ही जाता है। अत कषायी जीव पहले अपने भाव प्राणों का नाश करके अपने द्वारा अपना घात (हिंसा) तो कर ही लेता है। रही दूसरे जीवों के द्रव्य प्राणों के वियोग की बात, वह तो उनके साता असाता या आयु के आधीन है। कहीं इस जीव के कषाय के आधीन नहीं है। उसके द्रव्यप्राणों का घात हो जावे तो भी इसके हिंसा हो चुकी और न हो जावे तो भी इसके हिंसा हो चुकी। अब इसी को और दृढ करते हैं।

हिंसायामविरमण हिंसापरिणामनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपण नित्यम् ॥४८॥

अन्वय —हिंसाया अविरमण हिंसा। हिंसापरिणमन अपि हिंसा भवति। तस्मात् प्रमत्तयोगे नित्य प्राणव्यपरोपण (अस्त)।

सूत्रार्थ—हिंसा मे त्यागी न होना हिंसा है और हिंसा रूप परिणमना भी हिंसा होता है। इसलिये प्रमत्तयोग में (कषाय सहित उपयोग मे) सदा प्राणघात (हिंसा) है।

भावार्थ—बहुत से जीव यह समझते हैं कि हिंसा का भाव करना ही हिंसा है किन्तु आचार्य महाराज इसमे कुछ विशेषता बतलाते हैं कि हिंसा का भाव करना तो हिंसा है ही किन्तु जब तक किसी विषय मे हिंसा न करने का व्रत लेकर उसका त्यागी न हो जाये, उस सम्बन्धी प्रमत्तयोग का सद्भाव रहने से हिंसा तो निरन्तर होती ही रहती है और अपने भावप्राणों का घात होता ही रहता है। इसलिये तो नियमपूर्वक आचरण करने का आगम मे विधान है अन्यथा व्रत ग्रहण करने की आवश्यकता ही न रहती। जितनी जिस जीव मे अव्रत अवस्था है–उतना वहां प्रमादका सद्भाव है। वही प्रमत्तयोग है तथा वही भावहिंसा है और वही प्राणों का नाश है। क्योंकि आगे चरणानुयोग का ग्रन्थ बनाना है। इसलिये गुरु महाराज नियम बता रहे हैं कि जब तक किसी भी वस्तु का त्याग नियमपूर्वक नहीं करोगे तब तक उस सम्बन्धी प्रमत्तयोग की सत्ता रहेगी–वही भाव हिंसा है। इसलिये प्रमत्तयोग से अपनी रक्षा करने के लिये आगे कहे जाने वाला त्यागविधान ज्ञानियों द्वारा ग्रहण किया जाता है। उसी को अब कहते हैं कि यद्यपि परवस्तु से हिंसा का कोई सबन्ध नहीं है फिर भी उस सम्बन्धी प्रमत्तयोग से बचने के लिये उसका त्याग करना ही चाहिये। यही चरणानुयोग शास्त्र का प्रयोजन है।

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंस.।
हिंसायतननिवृत्ति. परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥४९॥

अन्वय—खलु पुंस. परवस्तुनिबन्धना सूक्ष्मा अपि हिंसा न भवति तदपि परिणामविशुद्धये हिंसाऽऽयतननिवृत्ति. कार्या।

सूत्रार्थ—वास्तव मे जीव के परवस्तु के कारण से होने वाली

जरा सी भी हिंसा नहीं होती है तो भी परिणामों की निर्मलता के लिये हिंसा के स्थानों से निवृत्ति करना ही चाहिये।

भावार्थ—सबसे पहले गुरु महाराज एक सिद्धात वताते हैं कि हिंसा दो प्रकार की होती है, एक भाव हिंसा–एक द्रव्य हिंसा। प्रमत्त योग अर्थात् कषाय भाव को भाव हिंसा कहते हैं तथा अपने या पराये जीव के द्रव्य प्राणों के घात को द्रव्य हिंसा कहते हैं। अब कहते हैं कि यदि प्रमत्तयोग हो और द्रव्यहिंसा विलकुल न हो तव तो हिंसा का पाप लगता है और वध भी होता है। इसलिये भावहिंसा तो हिंसा है ही। अव रही द्रव्यहिंसा की वात, उसके विषय मे यह नियम है कि यदि मुनि समितिपूर्वक चल रहा हो तो वहा प्रमत्तयोग का अभाव होने से भाव हिंसा तो है ही नहीं फिर भी यदि कोई जीव आयु कर्म का प्रेरा हुआ उनके पाव तले आकर मर जाये तो यद्यपि वहां द्रव्यहिंसा तो हुई किन्तु मुनि को उससे वध रचमात्र न होगा। इस प्रकार सव कार्यों मे पाचों समितियों का प्रयोग करने से मुनि के कितनी भी द्रव्यहिंसा हो पर वध रंचमात्र नहीं होता। मुनि के अतिरिक्त अन्य जीवों के भी वध का नियम द्रव्यहिंसा अनुसार नहीं है किन्तु भावहिंसा अनुसार है जैसे एक व्यक्ति को दस आदमी मिलकर मार रहे हैं तो वहा यद्यपि द्रव्यहिंसा तो सव वरावर की कर रहे हैं पर वध, जिसके जितनी डिगरी का प्रमत्तयोग (भावहिंसा - राग द्वेष) है उतनी डिगरी का ही होता है। अत' वंध द्रव्यहिंसा अनुसार रचमात्र नहीं है। और कहीं तो द्रव्यहिंसा होते हुये पाप की वजाय पुण्य वध होता है जैसे एक डाक्टर किसी व्यक्ति के रोग को दूर करने के भाव से Operation कर रहा है और वह व्यक्ति आयु पूर्ण होने के कारण मर जाय तो डाक्टर को अहिंसा भाव होने के कारण पुण्य वध होगा। पाप वध नहीं। इसी को इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे आगे सूत्र ५१ से ५७ तक विशद रूप से स्पष्ट करेंगे।

निश्चयमबुद्ध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव सश्रयते* ।
नाशयति करणचरण स वहि करणालसो वाल ॥५०॥

अन्वय —य निश्चय अवुद्ध्यमान त एव मश्रयने स. वालः वहि करणालस' करणचरण नाशयति ।

सूत्रार्थ—जो जीव यथार्थ निश्चय के स्वरूप को नहीं जानता हुआ, उस निश्चय को ही आश्रय करता है, वह अज्ञानी वाह्य क्रियाओ के करने मे आलसी, बाह्य क्रिया रूप आचरण को नाश करता है।

भावार्थ—यह सूत्र गुरु महाराज ने वहुत मार्के का लिखा है। निश्चयाभासी के स्वरूप को दिखलाया है। वे कहते हैं कि–निश्चय का यह सिद्धान्त है कि भावहिंसा ही हिंसा है। द्रव्यहिंसा हिंसा नहीं है। अत कोई यह समझे कि किसी वस्तु के त्याग की क्या आवश्यकता है अथवा समितिपूर्वक वर्तन करने की क्या आवश्यकता है तो उसके उत्तर मे आचार्य कहते हैं कि उसने यह कल्पना की है कि मैं निश्चय का जानकार हू, वास्तव मे उसने निश्चय को जाना ही नहीं है। निश्चय के जानने वाले तो अपने प्रमत्तयोग की शुद्धि के लिये अवश्य द्रव्यहिंसा के आयतनों से निवृत्ति करते ही हैं और उसके लिये व्यवहार धर्म को पालते ही हैं और समितिपूर्वक ही कार्य करते हैं। यह तो प्रमादी है। बहिरग चारित्र पालने का आलसी है। केवल निश्चय का नाम लेकर व्यवहार चारित्र को उडाना ही चाहता है। इस प्रकार तो चरणानुयोग शास्त्र का विधान ही समाप्त हो जायेगा। ऐसी भूल कदापि नहीं करनी चाहिये।

---

*यह सूत्र तथा श्री मोक्षमार्गप्रदीप पन्ना ३४ पर दिया गया प्राकृत सूत्र विल्कुल एक भाव का है। उस प्राकृतसूत्र पर से ही यह सूत्र श्री अमृतचन्द्र आचार्यदेव ने रचा है। वह प्राचीन सूत्र है। भाव दोनो का एक ही है। अतः इस सूत्र के अर्थ को विशेष जानने के लिये उसका भावार्थ पढिये।

अगली भूमिका—अब गुरु महाराज सूत्र ५१ से ५७ तक हिंसा अहिंसा के सिद्धांतों को १६ प्रकार से विशेष रीति से स्फुट करते हैं ताकि शिष्य को सिद्धांत का ठीक २ परिज्ञान हो जाय। आचार्यदेव के इन १६ नियमों को समझाने के लिये हमने कल्पित १६ दृष्टांत भावार्थ में लिखे हैं। इन १६ दृष्टांतों में ग्रहण सिद्धांत का करना—दृष्टांत तो ऐसे और भी अनेक हो सकते हैं और दृष्टांतों मे थोड़ा व्यभिचार दोष भी रह सकता है किन्तु सर्वत्र सूत्र के सिद्धांत को समझने का भाव रखना ऐसी प्रार्थना है। भाव केवल द्रव्यहिंसा और भावहिंसा के समझाने मात्र का है। ये दृष्टांत तो हमने बहुत मोटे रूप मे केवल पाठकों को सूत्र का भाव पकड़ाने के लिये लिख दिये हैं और तत्त्व का सार इतना ही है कि परवस्तु अनुसार हिंसा रचमात्र भी नहीं होती है केवल अपने भावों अनुसार ही होती है—फिर भी अपने प्रमत्तयोग की शुद्धि के लिये हिंसा के आयतनों से निवृत्ति अवश्य करना चाहिये। यही चरणानुयोग की सार्थकता है। पूर्व सूत्र ४९ के नियम को ही १६ प्रकार से खोल कर दिखलाया है। देखिये तो सही—गुरु महाराज की अनेकान्त बुद्धि कितने गजब की थी—अगले १६ नियमों मे कमाल किया है।

हिंसा अहिंसा के १६ दृष्टांत सूत्र ५१ से ५७ तक

पहला दूसरा परस्पर विरोधी दृष्टांत

अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥५१॥

अन्वय —हि एक हिंसा अविधाय अपि हिंसाफलभाजनं भवति अपर हिंसा कृत्वा अपि हिंसाफलभाजनं न स्यात्।

सूत्रार्थ—(१) वास्तव मे कोई एक (भाव हिंसा के सद्भाव के कारण) द्रव्य हिंसा को नहीं करके भी हिंसा फल के भोगने का पात्र होता है और (२) दूसरा कोई (भाव हिंसा के असद्भाव के कारण) द्रव्य हिंसा को करके भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र नहीं होता

है अर्थात् एक हिंसा को न करके भी फल पाता है—दूसरा हिंसा करके भी फल नहीं पाता है।

भावार्थ (१) कोई जीव किसी को मारने का भाव करता है और मारने की प्रवृत्ति भी करता है किन्तु वह अपने आयु या साता के आधीन रचमात्र भी कष्ट को प्राप्त नहीं होता तो कहते हैं कि वह तो द्रव्यहिंसा को न करके भी अपनी भावहिंसा के कारण हिंसा का भागी हो गया (२) कोई डाक्टर रोगी को बचाने के भाव से चीरफाड कर रहा है। वह रोगी अपनी आयुपूर्तिवश मर गया तो कहते हैं कि यद्यपि उसने द्रव्यहिंसा की किन्तु भाव हिंसा के अभाव के कारण हिंसा का फल जो पाप बध था—वह उसे रचमात्र न हुआ। यहां दोनों परस्पर विरोधी दृष्टात दिखलाये गये हैं। सिद्धात यह है कि एक (द्रव्य) हिंसा को न करके भी हिंसा का फल पाता है—दूसरा द्रव्य) हिंसा करके भी हिंसा का फल नहीं पाता है। भावों की कैसी विचित्रता है। यही तो अनेकात जैन धर्म का मर्म है। गुरु महाराज ने जीव के भावों को दिखाने मे कमाल किया है।

तीसरा चौथा विरोधी दृष्टान्त

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥५२॥

अन्वय.—एकस्य अल्पा हिंसा काले अनल्प फल ददाति। अन्यस्य महाहिंसा परिपाके स्वल्पफला भवति।

सूत्रार्थ—(३) किसी एक जीव को तो (अधिक भाव हिंसा का सद्भाव होने के कारण से। थोडी भी द्रव्यहिंसा फलकाल मे बहुत फल को देती है और (४) किसी दूसरे जीव के (स्तोक भाव हिंसा का सद्भाव होने के कारण से) बहुत बडी द्रव्यहिंसा भी फलकाल में बिलकुल थोड़ा फल देने वाली होती है [पहले मे द्रव्यहिंसा थोड़ी फल बहुत, दूसरे मे द्रव्य हिंसा बहुत—फल थोडा—देखो भावो की विचित्रता]।

भावार्थ—(३) एक जीव ने किसी को जान से मारने के लिये कोई शस्त्र फेंका किन्तु दैववश वह शस्त्र उसके पूर्ण रूप से न लग कर जरा सा लगा और उस की मानो एक उंगली कट गई—तो कहते हैं कि यहा यद्यपि द्रव्यहिंसा तो जरा सी हुयी किन्तु उसके तीव्र भाव हिंसा (प्रमत्तयोग) होने के कारण कर्म बंध और उस का फल तो महान् होगा। (४) किसी गाडी चलाने वाले ने घोडा, बैल आदि अपने किसी पशु को तेज चलने के लिये कोडा मारा और दैववश वह चोट उसके किसी मर्म छेदक स्थान पर लगने से वह मर गया। तो कहते हैं कि यद्यपि यहां द्रव्यहिंसा तो महान् हुयी किन्तु भाव हिंसा (प्रमत्तयोग) अल्प होने के कारण बंध अल्प ही होगा—महान् नहीं। ऊपर के दृष्टात से थोडी द्रव्यहिंसा किन्तु बंध महान् और नीचे के दृष्टात में महान् द्रव्य हिंसा किन्तु बंध अल्प। फलितार्थ यही हुआ कि हिंसा परवस्तु की हिंसा अनुसार नहीं किन्तु अपने भावानुसार होती है। इसी सिद्धात को पुन पुन अनेक दृष्टातों द्वारा और स्फुट करेंगे।

पाचवा छठा दृष्टात

एकस्य सैव तीव्र दिशति फल सैव मन्दमन्यस्य ।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥५३॥

अन्वय—सहकारिणो अपि हिंसा अत्र फलकाले वैचित्र्य-व्रजति। एकस्य सा एव तीव्र फल दिशति। अन्यस्य सा एव हिंसा मन्द फल दिशति।

सूत्रार्थ—(५) एक साथ मिलकर की गई भी द्रव्यहिंसा यहां फलकाल मे विचित्रता (भिन्नता) को प्राप्त होती है। एक के [तीव्र भाव हिंसा के सद्भाव के कारण] वह ही द्रव्यहिंसा बहुत फल को देती है और (६) दूसरे के [मन्द भावहिंसा के सद्भाव के कारण] वह ही द्रव्य हिंसा अल्पफल को देती है। [द्रव्यहिंसा एक जैसी और फल मे अन्तर—कैसी भावों की विचित्रता है]।

भावार्थ—(५–६) किसी व्यक्ति को दो आदमी मिलकर पीटने लगे। एक के परिणामो मे तो उसके प्रति बहुत अधिक कषाय है और दूसरे के परिणामों मे बहुत हलकी है। यद्यपि दोनों द्रव्यहिंसा तो एक जैसी कर रहे हैं किन्तु बध अधिक भावहिंसा (प्रमत्तयोग) वाले को अधिक होगा और मन्द वाले का मन्द। इस प्रकार एक जैसी भी द्रव्यहिंसा भिन्न २ फलकारक बन जाती है। अर्थात् फल भावहिंसा अनुसार ही होता है, द्रव्यहिंसा अनुसार नहीं।

सातवा, आठवा, नवा, दसवा दृष्टात

प्रागेव फलति हिंसा, क्रियमाणा फलति, च कृतापि,।
आरभ्यकर्तुमकृतापि, फलति हिंसानुभावेन ॥५४॥

अन्वय—च हिंसा प्राक् एव फलति, क्रियमाणा फलति, कृता अपि फलति च आरभ्यकर्तुं अकृता अपि फलति (अर्थात्) हिंसा अनुभावेन फलति।

सूत्रार्थ—(७) और कोई हिंसा होने से पहले ही फल दे देती है और (८) कोई हिंसा, द्रव्यहिंसा करते हुये ही फल देती है और (९) कोई हिंसा द्रव्यहिंसा के हो चुकने पर फल देती है और (१०) कोई हिंसा हिंसा करने को प्रारम्भ करके किन्तु द्रव्यहिंसा न होने पर भी फल देती है। साराश यह है कि हिंसा कषाय भावो के अनुसार ही फल देती है (द्रव्यहिंसा के अनुसार नहीं)।

भावार्थ—(७) किसी जीव ने किसी को मारने का भाव किया तो उसको प्रमत्तयोग होने से उसी समय बध हो गया। उस बध मे जो स्थिति पडी–उसका समय पूरा होने से उसे फल मिल गया। यद्यपि वह द्रव्यहिंसा जिसका कि उसने विचार किया था–अभी तक न हो पायी और फल भोगने के भी बाद हुई। इस प्रकार कहीं तो द्रव्यहिंसा पीछे होती है किन्तु फल पहले मिल जाता है। (८) कहीं ऐसा होता है कि

किसी ने किसी को मारने का आज विचार किया। प्रमत्तयोग के कारण बंध हुआ। उसकी स्थिति पूरी होकर जिस समय फल मिला उसी समय दैवयोग से वह द्रव्यहिंसा हुई जिसका कि उसने विचार किया था। इधर फल भोग रहा है उधर हिंसा हो रही है। इस प्रकार कहीं हिंसा होते हुये उसी समय फलती है। (९) कहीं ऐसा होता है कि अभी किसी ने मारने का विचार किया और दैवयोग से वह मर भी गया किन्तु कर्मबंध की स्थिति अभी पूर्ण न हुवी। और पीछे स्थिति पूरी होकर फल मिला—इस प्रकार हिंसा—द्रव्यहिंसा हो चुकने के बाद फलती है। (१०) कहीं ऐसा होता है कि किसी ने किसी को मारने का विचार किया। उसे प्रमत्तयोग के कारण बंध हुआ। उसकी स्थिति पूरी होकर उसे फल तो मिल गया और दैववश वह द्रव्यहिंसा हो ही न सकी जिसका कि उसने विचार किया था। इस प्रकार हिंसा प्रारम्भ करके न करने पर भी, फल तो देती ही है। कैसी विचित्रता है।

अब उपर्युक्त १० दृष्टांतों का सार निकाल कर कहते हैं कि हिंसा तो दस के दस जीवों ने की किन्तु फल भिन्न २ रूप से मिला। इससे यह सार निकला कि हिंसा का फल अपने कषाय भावों के अनुसार होता है—द्रव्यहिंसा के अनुसार नहीं। वह (द्रव्यहिंसा) तो कहीं हो भी नहीं पाती। उसके साथ फल का अविनाभाव बिलकुल नहीं है। भावहिंसा के साथ व्याप्ति है।

ग्यारहवा, बारहवा विरोधी दृष्टांत

एक करोति हिंसा भवन्ति फलभागिनो बहव।
बहवो विदधति हिंसा हिंसाफलभुग्भवत्येक ॥५५॥

अन्वय —एक हिंसा करोति किन्तु फलभागिन. बहवः भवन्ति। हिंसा बहव विदधति (परन्तु) हिंसाफलभुक् एक. भवति।

सूत्रार्थ—(११) द्रव्यहिंसा को तो एक करता है किन्तु फल

भोगने के भागी बहुत होते हैं (१२) कहीं द्रव्यहिंसा को तो बहुत करते हैं किन्तु हिंसा के फल का भोक्ता एक ही होता है।

भावार्थ- (११) कहीं बाजार मे एक आदमी दूसरे को मार रहा है और दस खडे तमाशा देख रहे हैं और देख २ कर खुश होते हैं। द्रव्यहिंसा एक कर रहा है किन्तु कर्मबन्ध पूर्वक फल सबके होगा-इस प्रकार हिंसा की एक ने और फल भोगा अनेक ने। (१२) एक राजा ने अपने चार पाच सिपाहियों को किसी को मारने का हुक्म दिया। सिपाहियों का भाव उसे मारने का नहीं था किन्तु मालिक की आज्ञावश मारना पडा-तो वहां द्रव्यहिंसा तो अनेकों ने की किन्तु उसका फल एक मालिक को भोगना पडेगा। (दृष्टांत बहुत मोटा है-सार तत्त्व लेलेना)। दोनों परस्पर विरोधी दृष्टात हैं। पहले मे एक हिंसा करता है-फल बहुत भोगते हैं किन्तु दूसरे मे हिंसा बहुत करते हैं फल एक भोगता है। राजा लडाई का हुक्म देता है। हिंसा बहुत करते हैं-फल एक राजा भोगता है। देखिये-कैसी भावों की विचित्रता है।

तेरहवा चौदहवा विरोधी दृष्टात

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफल विपुलम् ॥५६॥

अन्वय —कस्य हिंसा अपि फलकाले एक एव हिंसाफल दिशति। अन्यस्य सा एव हिंसा विपुल अहिंसाफल दिशति।

सूत्रार्थ—(१३) किसी के (भावहिंसा के सद्भाव के कारण) द्रव्यहिंसा फलकाल मे एक हिंसा के फल को ही देती है और (१४) किसी के (बचाने के परिणामों का सद्भाव होने के कारण) वह ही द्रव्यहिंसा फलकाल मे बहुत से अहिंसा के फल को देती है।

भावार्थ—(१३-१४) किसी सिविल सर्जन ने अपने दो डाक्टरों को एक रोगी के Operation के लिये नियुक्त किया। उनमे से एक ने

रोगी से रिश्वत मांगी—रोगी गरीब होने के कारण रिश्वत न दे सका और वह डाक्टर बहुत क्रूर परिणामी था। अन्दर में जल गया—जब दोनों ऑपरेशन करने लगे तो एक डाक्टर ने मारने के दुष्ट भाव से किया। दूसरे ने बचाने के भाव से ऑपरेशन किया। दैववश वह रोगी मर गया। देखिये द्रव्यहिंसा तो दोनों ने एक जैसी की किन्तु जिसके मारने के भाव थे उसे तो फलकाल मे हिंसा का बहुत फल मिला और जिस के बचाने के भाव थे उसे फलकाल मे अहिंसा का बहुत फल मिला। भाव यह हुआ कि हिंसा द्रव्यहिंसा अनुसार नहीं किन्तु भावहिंसानुसार होती है। एक दृष्टात मे हिंसा का फल हिंसा दिखाया है और दूसरे मे हिंसा का फल अहिंसा दिखाया है। कैसी भावों की विचित्रता है ?

पन्द्रहवां. सोलहवां विरोधी दृष्टात

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥५७॥

अन्वय—तु अपरस्य अहिंसा परिणामे हिंसाफल ददाति-अन्यत् न। तु पुन. इतरस्य हिंसा अहिंसाफल दिशति—अन्यत् न।

सूत्रार्थ—(१५) और किसी के (अन्तरंग में भाव हिंसा के सद्भाव के कारण किन्तु बहिरग मे) अहिंसा (बचाने का परिणाम) फल काल मे हिंसा के फल को देता है—अहिंसा के फल को बिलकुल नहीं देता और (१६) किसी दूसरे के (अन्तरग में अहिंसा भाव के सद्भाव के कारण) बहिरंग की द्रव्यहिंसा फलकाल मे अहिंसा के फल को देती है—हिंसा के फल को बिलकुल नहीं देती [एक मे की अहिंसा-फल हिंसा किन्तु दूसरे मे की हिंसा—फल अहिंसा]।

भावार्थ—(१५) मायाचारी व्यक्ति का ऐसा स्वभाव होता है कि अंदरमें तो दुष्टता रहती है -हिंसाके भाव रहते हैं—दूसरे के मारने के—बुरा करने के भाव रहते हैं और बाहिर में अहिंसा रूप अर्थात् उसके बचाने

रूप क्रिया करता दीखता है तो कहते हैं कि ऐसे जीव को अहिंसा करते भी बंध और फल तो हिंसा का ही होता है। अहिंसा का बिलकुल नहीं। (१६) कोई डाक्टर किसी रोगी को ऑपरेशन करके बचाता है तो बहिरंग में द्रव्यहिंसा होते भी उसे बंध और फल तो अहिंसा का ही होगा। हिंसा का बिलकुल नहीं होता। दोनों जगह हिंसा भावहिंसानुसार हुई--द्रव्यहिंसानुसार नहीं। एक में अहिंसा का फल हिंसा दिखाया है और दूसरे में हिंसा का फल अहिंसा दिखाया है। कैसी विचित्रता है।

उपसंहार रूप सूत्र ५८--५९--६०

इति विविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम् ।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः ।।५८।।

अन्वय.—इति सुदुस्तरे विविधभंगगहने मार्गमूढदृष्टीनां प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः गुरवः शरणं भवन्ति ।

सूत्रार्थ—इस प्रकार अत्यन्त कठिन नाना प्रकार भंग रूप गहन वन में मार्ग मूढदृष्टि पुरुषों को अर्थात् मार्ग भूले हुये पुरुषों को (भोले जीवों को) अनेक प्रकार के नय समूह के प्रयोग को जानने वाले श्रीगुरु ही शरण होते हैं।

भावार्थ—अब गुरु महाराज जैन मतानुयायी शिष्य को संकेत करके समझाते हैं कि देख भाई! इन १६ दृष्टांतों अनुसार प्रायः सब संसारी जीव बहिर की क्रिया के अनुसार हिंसा समझते हैं और हिंसा अन्तरंग प्रमत्तयोग के अनुसार होती है--इसको वे नहीं जानते। ऐसे और भी अनेक भंग हो सकते हैं जो बहुत गहन हैं और जीव को अपने आप उनमें मार्ग मिलना कठिन है। इन भंगों के ज्ञाता तो अनेकान्त के (नय समूह के) प्रयोग को जानने वाले जैन गुरु ही हो सकते हैं। हे जीव! अपने आप तुझे मार्ग न मिलेगा क्योंकि मार्ग गहन बनी की तरह जटिल है और तू मार्ग भूल जायेगा। इसलिये भाई यदि सत्य मोक्षमार्ग को प्राप्त करना ही चाहता है तो (मान छोड़कर) अनेक नयों

के प्रयोग को जानने में निपुण गुरुवों की शरण ले–वे तुझे उस प्रकार मार्ग बतायेंगे जैसा कि सकेत रूप से आचार्य महाराज ने स्वयं आगे सूत्र न० ६० मे बताया है तब तुझे मार्ग मिलेगा। इस सूत्र से यह भी स्पष्ट हो गया है कि बिना ज्ञानी गुरु के अपने आप न आजतक किसी को मार्ग मिला है और न मिल ही सकता है। इसलिये सम्यक्त्व मे ज्ञानी गुरुओ की देशनालब्धी अवश्य कारण पडती है ऐसा वस्तु स्वभाव है–यही इस सूत्र मे निरूपण किया है। प्रबुद्धनयचक्रसचारा गुरव–पद से यह स्पष्ट कर दिया है कि अनेकान्ती जैन गुरु ही मोक्षमार्ग मे शरणभूत हैं--अन्य मतों के कुगुरु नहीं क्योंकि मार्ग स्वय अनेकान्तरूप हैं।

अगली भूमिका—इसी शास्त्र में आगे सूत्र न० ७८ से ९० तक एक प्रकरण आनेवाला है जिसमें यह दिखलाया है कि जगत् 'प्रमत्तयोग में हिंसा है'—इस सिद्धात को तो जानता ही नहीं है किंतु बहिरग की द्रव्यहिंसा मे ही अहिंसा (धर्म) की कल्पना किये हुये है और उनको अनेक कुनयों (कुयुक्तियों) के आधार पर सिद्ध भी करता है। खोटे हेतु दृष्टात भी देता है जैसे कोई यज्ञ मे पशु होमने मे धर्म मानता है और हेतु देता है कि वह जीव स्वर्ग चला जाता है, कोई कहता है कि बलि देना देवताओं की आज्ञा है–इसलिये देवताओं के लिये हिंसा करने मे अधर्म नहीं है। कोई कहता है–मेहमान के लिये बकरे आदि का मास देने मे दोष नहीं है, कोई कहता है–हिंसक जानवरों को मारने मे दोष नहीं है क्योंकि ये बहुत पाप करते हैं तथा हमे काटते हैं–इत्यादि अनेक प्रकार से हिंसा मे अहिंसा मानते हैं। जगत् मे उनकी सख्या बहुत है। कई बार उनके ऐसे बर्ताव को देखकर जैन शिष्य असमजस मे पड जाता है कि शायद इन्हीं की बात ठीक हो और कई बार सत्यमार्ग को छोडकर कुमार्ग भी ग्रहण कर लेता है ऐसी दशा मे उस जैन शिष्य को गुरु महाराज समझाते हैं कि भाई यदि पूर्व सूत्र न० ५८ के अनुसार तू अनेकांत मर्मज्ञो गुरुवों की शरण लेकर नयचक्र के चलाने मे स्वय

निपुण हो जायेगा तो फिर तो तू उनके कुमार्ग में न फस सकेगा–किन्तु उनका मार्ग गलत और झूठा है–इसको तो तू स्वयं नयरूप तीक्ष्ण चक्र से तुरन्त खण्डन कर देगा और सत्यमार्ग से न डिग सकेगा। सोई अब कहते हैं—

> अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
> खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥५९॥

अन्वय—जिनवरस्य अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं धार्यमानं नयचक्रं दुर्विदग्धानां मूर्धानं झटिति खंडयति।

सूत्रार्थ—जिनेन्द्र भगवान् का अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला और दुस्साध्य धारण किया हुआ नयचक्र, अज्ञानी जनों के मस्तकों को अर्थात् अन्यमतियों की झूठी मान्यताओं को तुरन्त खण्डन कर देता है।

भावार्थ—जो मत मतान्तर केवल द्रव्यहिंसा को ही हिंसा मानते हैं और भावहिंसा से अपरिचित हैं अथवा जिन्होंने उलटा हिंसा (अधर्म) में अहिंसा (धर्म) माना है, उन सबकी खोटी मान्यताओं को गुरुशरण से सीखा हुआ नयचक्र खण्डन कर डालता है और सच्चे मार्ग की पक्की श्रद्धा करा देता है।

(१) जिनवरस्य नयचक्र—का भाव है जैनियों का अपेक्षावाद। अनेक दृष्टि समूह से वस्तुस्वरूप को अनेक प्रकार बतलाने वाला–कहीं हिंसा में अहिंसा, कहीं अहिंसा में हिंसा, कहीं बाहर में अधिक हिंसा तो अन्दर में कम हिंसा, कहीं बाहर में कम हिंसा तो अन्दर में अधिक–जैसा कि पहले १६ दृष्टांतों में दिखलाया है। और कैसा है वह दृष्टिसमूह ?

(२) दुरासद—दुस्साध्य है अर्थात् जो एकान्तवादी की कभी समझ में नहीं आ सकता। उसको तो अनेकान्ती शिष्य ही साध सकता है। जैसे चक्रवर्ती के चक्र का दूसरा प्रयोग नहीं कर सकता वही प्रयोग

कर सकता है–इसी प्रकार जिनेन्द्र के नयचक्र का एकान्ती प्रयोग नहीं कर सकता–अनेकाती ही उसको साधता है। और कैसा है वह नयचक्र ?

(३) अत्यन्तनिशितधार—अत्यन्त तीक्ष्णधारवाला है। जिस प्रकार चक्रवर्ती का चक्र ऐसा तीक्ष्ण होता है कि उसका वार खाली नहीं जाता। दुश्मन को काटता ही है। उसी प्रकार जिनेन्द्र का यह नयचक्र दृष्टिवाद के बल पर इतना प्रबल होता है कि खोटी मान्यताओं का खण्डन करके ही छोड़ता है और मार्ग को अनेकात ही सिद्ध करता है।

(४) खण्डति धार्यमान मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्—का भाव यह है कि जब चक्रवर्ती चक्र को धारण करके निकलता है तो वह शत्रुओं के मस्तक को तुरन्त काटता ही है। इस प्रकार जब जीव उपर्युक्त नयचक्र को धारण कर लेता है तो खोटे अभिप्राय से दग्ध पुरुषों के मस्तकों को काटता ही है अर्थात् उनकी खोटी मान्यताओं का खण्डन करता ही है और सत्यमार्ग पर दृढ़ रहता ही है।

अब सार बात क्या है–इसकी शिक्षा देते हुये चारित्र के सामान्य निरूपण को सकोचते हैं—

सार तत्त्व

अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैं निजशक्त्या त्यज्यता हिंसा ॥६०॥

अन्वय —नित्य अवगूहमानैं तत्त्वेन हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि अवबुध्य निजशक्त्या हिंसा त्यज्यता।

सूत्रार्थ—सवरमार्ग मे (मोक्षमार्ग मे) नित्य उद्यमवान् पुरुषों द्वारा वास्तविकपने से हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाफल को जानकर अपनी शक्ति अनुसार हिंसा छोड़नी चाहिये (अर्थात् अहिंसाव्रत को ग्रहण करना चाहिये)।

भावार्थ—चारित्र का प्रकरण चल रहा है। हिंसा के त्याग को चारित्र कहते हैं—सो गुरु महाराज समझाते हैं कि त्याग का नियम लेने से पहले गुरुओं से हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाफल को निम्न प्रकार भली भांति समझना चाहिये और फिर यह समझना चाहिये कि हिंसा का वह त्याग एक पूर्ण रूप से होता है जो नौ कोटिपूर्वक किया जाता है और दूसरा एकदेशरूप से होता है जिसमे जितने भी अंश मे चाहे—उतना त्याग हो सकता है। ऐसा वस्तु तत्त्व समझकर फिर मुमुक्षु को (मोक्षमार्ग मे नित्य उद्यमवान् पुरुष को) अपनी शक्ति को भले प्रकार विचारना चाहिये और तदनुसार हिंसा का पूर्णरूप से या एकदेश रूप से त्याग करना चाहिये अर्थात् चरणानुयोग की आगे बताई जाने वाली त्यागविधि अनुसार मुनि या श्रावक के व्रत ग्रहण करने चाहिये—

(१) हिंस्य—जिसकी हिंसा की जाय—उसको हिंस्य कहते हैं। अर्थात् मारे जाने वाले को हिंस्य कहते हैं। सारा जगत दूसरे जीव को हिंस्य समझता है वह तात्त्विक बात नहीं है किन्तु वास्तव मे 'हिंस्य तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप शुद्ध भाव है' जिसकी कि प्रमत्तयोग द्वारा हिंसा की जाती है। यह तत्त्वपने से हिंस्य का अर्थ है। अपने या दूसरे के द्रव्यप्राणों को तो उपचार से हिंस्य कहते हैं। वह भी तात्त्विक बात नहीं है।

(२) हिंसक—हिंसा करने वाले को हिंसक कहते हैं अर्थात् सारा जगत मारने वाले को हिंसक कहता है वह तात्त्विक बात नहीं है किन्तु तात्त्विक बात यह है कि "प्रमत्तयोग को धारण करने वाले जीव को हिंसक कहते हैं।" जैसे एक मुनि ईर्या समिति से चला जा रहा है और उनके पाव के तले आकर जीव मर जाय तो उस मुनि के प्रमत्तयोग न होने से वह रचमात्र भी हिंसक नहीं है और एक जीव दूसरे को मारने का विचार मात्र कर रहा है।

यद्यपि उसने अभी तक उसको रचमात्र हिंसा नहीं की किन्तु अपने प्रमत्तयोग के कारण वह हिंसक तो हो चुका।

(३) हिंसा—मारने की क्रिया को हिंसा कहते हैं। सारा जगत् द्रव्यहिंसा को हिंसा समझता है किन्तु वास्तव मे ऐसा नहीं है। 'प्रमत्तयोग को हिंसा कहते हैं।" ऊपर के दृष्टात मे मुनि ने तो हिंसा करते हुये भी हिंसा नहीं की और प्रमत्तयोगवाले ने हिंसा न करके भी हिंसा की।

(४) हिंसाफल—हिंसा का फल आस्रव बंध पूर्वक ससार उत्पत्ति है।

(५) नित्य अवगूहमानैं—का ऐसा भाव है कि जिन्हें वास्तव मे संवर मार्ग को प्राप्त करना है और नित्य उसमे पुरुषार्थ पूर्वक लगे हुवे हैं—उन्हें तो इसी विधि का अनुसरण करना चाहिये और जिन्हें यद्वा तद्वा वर्तना है—वे चाहे कुछ भी करें पर उन्हें मोक्षमार्ग की सिद्धि न होगी।

(६) तत्त्वेन—का भाव ऐसा है कि जगत् जिस प्रकार वस्तु का स्वरूप अर्थात् हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाफल का स्वरूप समझता है—तत्त्व वास्तव में वैसा नहीं है। तत्त्व वास्तव मे कैसा है—यह तो पहले किसी अनेकान्त ज्ञानी गुरु के चरणारविन्द की सेवा से सीखना चाहिये जैसा कि पूर्व सूत्र ५८ मे सकेत कर आये हैं। तब कार्य की सिद्धि होगी।

(७) 'निजशक्त्या'—का ऐसा भाव है कि अपनी शक्ति हो महाव्रत की तो अणुव्रत नहीं लेना चाहिये क्योंकि मोक्ष महाव्रतो के ही है और अपनी शक्ति है अणुव्रत की तो महाव्रत नहीं लेना चाहिये क्योंकि 'यतो भ्रष्ट ततो भ्रष्ट' वाली बात हो जायेगी—पहले अपनी शक्ति को अच्छी तरह धर्मकाटे मे तोल कर फिर त्याग करना चाहिये।

(८) 'त्यज्यता हिंसा'—का ऐसा भाव है कि हिंसा का एक त्याग पूर्ण रूप से होता है—एक आंशिकरूप से होता है। सो जैसा उचित हो—

वैसा त्याग करे ।

आगे बताई जाने वाली त्याग विधि के लिये गुरुदेव ने यहां तक शिष्य को सामान्य चारित्र के नियम समझाये । इत्यादि रूप से वस्तु स्वरूप को भली भाति समझ कर ही आगे सूत्र ६१ से बताये जाने वाले हिंसा त्याग आदि को ग्रहण करना चाहिये ।

सामान्य सम्यक्चारित्र पर प्रश्नोत्तर प्रमाण सूत्र स०

प्रश्न २४—सम्यक्चारित्र किसे धारण करना चाहिये ?

उत्तर—जो सम्यग्दृष्टि हो, सम्यग्ज्ञानी हो तथा दृढचित्तवृत्तिवाला हो, उसे ही सम्यक्चारित्र धारण करना चाहिये । (३७)

प्रश्न २५—यदि विना सम्यग्ज्ञानी हुये चारित्र ग्रहण कर लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर—वह चारित्र सम्यक् नाम को प्राप्त नहीं होगा–सवर निर्जरा का कारण नहीं बनेगा किन्तु आस्रव बध करने वाला ससार का कारण ही रहेगा । इसलिये सम्यग्ज्ञान के बाद ही सम्यक्चारित्र की आराधना करनी चाहिये । (३८)

प्रश्न २६—सम्यक्चारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर—समस्त सावद्ययोग से रहित, सकलकषाय रहित, अत्यन्त निर्मल, उदासीन रूप (वीतरागरूप–ज्ञाताद्रष्टारूप) आत्मा के शुद्ध भाव को सम्यक्चारित्र कहते है। (३९)

प्रश्न २७—चारित्र के कितने भेद हैं तथा वह किन के होता है ?

उत्तर—एक–पाच पापों के सर्वथा त्यागरूप सकल चारित्र होता है जो आत्मस्वरूप को प्राप्त मुनियों के होता है । दूसरा–पाच पापों के एकदेशत्यागरूप विकल चारित्र होता है जो उस मुनिधर्म के उपासक श्रावकों के होता है । (४०-४१)

प्रश्न २८—पाच पापो के त्याग से क्या आशय है ?

उत्तर—पाच पापों मे प्रमत्तयोग का सद्भाव अवश्य पाया जाता है। अत: पाच पापों का त्याग कहो या प्रमत्तयोग का त्याग कहो या भावहिंसा का त्याग कहो—एक ही बात है। पांच पाप तो मोटी बुद्धिवाले शिष्यों को समझाने के लिये है—वास्तव मे तो सब मे अपने परिणामों का घात होने से हिंसा ही है। वही अधर्म है। उसी का छोड़ना धर्म या मोक्षमार्ग है। (४२)

प्रश्न २९—हिंसा अहिंसा किसे कहते हैं ?

उत्तर—कषाय के योग से द्रव्य भाव रूप प्राणों के व्यपरोपण करने को हिंसा कहते हैं अर्थात् रागादि भावों की उत्पत्ति हिंसा है और उन का अप्रादुर्भाव अहिंसा है। इस मे इतने विवेक की अवश्य आवश्यकता है कि रागादि बिना समिति पूर्वक आचरण करने वाले के तो द्रव्य प्राणों के व्यपरोपणमात्र से हिंसा रचमात्र नहीं है और अयत्नाचार रूप प्रमाद अवस्था मे रागादि के वशीभूत प्रवृत्ति होने से द्रव्यहिंसा हो या न हो—पर भाव हिंसा अवश्य है क्योंकि दूसरे की हिंसा हो या न हो पर कषायी जीव अपने भावप्राणों का घात तो करता ही है। इससे हिंसा से अनिवृत्ति या हिंसामयप्रवृत्ति दोनों मे प्रमत्तयोग होने से हिंसा है। यद्यपि परवस्तु के कारण से सूक्ष्म भी हिंसा नहीं है फिर भी निज परिणामों की शुद्धि के लिये हिंसा आयतनों का भी अवश्य त्याग करना ही चाहिये। यही इस शास्त्र रचना का उद्देश्य है। (४३ से ४९ तक)

प्रश्न ३०—निश्चयाभासी किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो केवल भावहिंसा को ही हिंसा मानकर द्रव्यहिंसा के आयतनों से निवृत्ति नहीं करता अर्थात् शुभ भाव रूप चरणपरिणामो के पालने मे आलसी है—वह अज्ञानी—मिथ्यादृष्टि—निश्चयाभासी है। (५०)

प्रश्न ३१—हिंसा का नियम क्या है ?

उत्तर—जहा जितना प्रमत्तयोग है-वहा उतनी ही हिंसा है और उतना ही बध है-यह हिंसा का अकाट्य नियम है। द्रव्यहिंसानुसार हिंसा का नियम नहीं है। इसी को १६ दृष्टांतों से पुष्ट किया है।

(५१ से ५६ तक)

प्रश्न ३२—हिंस्य, हिंसक, हिंसा तथा हिंसाफल किसको कहते हैं ?

उत्तर—(१) प्रमत्तयोग को हिंसा कहते हैं। (२) प्रमत्तयोग को धारण करने वाले जीव को हिंसक कहते हैं। (३) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप शुद्ध स्वभाव को हिंस्य कहते हैं जिस की कि प्रमत्तयोग द्वारा हिंसा की जाती है। (४) हिंसा का फल आस्रव बधं पूर्वक ससार उत्पत्ति है। (६०)

सम्यक्‌चारित्र का सामान्य निरूपण समाप्त हुआ।

अहिंसाणुव्रत का निरूपण

(सूत्र ६१ से ७७ तक १७)

मद्य मास क्षौद्र पचोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥

अन्वय—हिंसाव्युपरतिकामैः प्रथम एव यत्नेन मद्य मास क्षौद्र पचोदुम्बरफलानि मोक्तव्यानि।

सूत्रार्थ—हिंसा त्याग करने की कामनावाले पुरुषों द्वारा सबसे पहले यत्नपूर्वक (अतिचार सहित) शराव, मांस, शहद और उदुम्बर फल (ऊमर-कठूमर-पीपल-वड-पाकर) छोडने योग्य हैं।

मद्य त्याग का निरूपण सूत्र ६२-६३-६४=३

मद्य मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मं।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥६२॥

अन्वय —मद्य मनो मोहयति । तु मोहितचित्त. धर्मं विस्मरति । विस्मृतधर्मा जीव. अविशक हिंसा आचरति ।

सूत्रार्थ—मदिरा (शराव) मन को मोहित करती है और मोहित-चित्त पुरुष धर्म को भूल जाता है तथा धर्म को भूला हुआ जीव निडर होकर हिंसा को आचरण करता है अर्थात् वेधडक हिंसा (पाप करने लगता है ।

रसजाना च वहूना जीवाना योनिरिष्यते मद्य ।
मद्य भजता तेषा हिंसा सजायतेऽवश्यम् ॥६३॥

अन्वय —च मद्य वहूना रसजाना जीवानां योनि इष्यते । तस्मात् मद्य भजता तेषां जीवाना हिंसा अवश्य सजायते ।

सूत्रार्थ—और मदिरा वहुत से रस से उत्पन्न हुवे जीवों की योनि (उत्पत्ति स्थान) कही जाती है । इसलिये मदिरा को सेवन करने वालों के, उन जीवों की हिंसा अवश्य ही होती है ।

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्या. ।
हिंसाया पर्याया सर्वेऽपि च सरकसन्निहिता ॥६४॥

अन्वय —च अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्या. हिंसाया पर्याया । सर्वे अपि सरकसन्निहिता (सन्ति) ।

सूत्रार्थ—और घमण्ड, डर, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम क्रोध आदि हिंसा के पर्याय (भेद) हैं और ये सब ही मदिरा के निकटवर्ती हैं (सहचर हैं) अर्थात् मदिरा पीनेवालों मे ये सब दोष उत्पन्न हो जाते हैं ।

मास त्याग का निरूपण सूत्र ६५ से ६८ तक ४

न विना प्राणविघातान्मासस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात् ।
मास भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥६५॥

अन्वय.—यस्मात् प्राणविघातात् विना मासस्य उत्पत्ति. न इष्यते । तस्मात् मास भजत अनिवारिता हिंसा प्रसरति ।

सूत्रार्थ—क्योंकि प्राणी के घात किये बिना मांस की उत्पत्ति नहीं कही जाती है। इसलिये मास को खाने वाले के अनिवार्य हिंसा फैलती है।

यदपि किल भवति मास स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादे ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ॥६६॥

अन्वय.—यदपि किल स्वय एव मृतस्य महिषवृषभादेः मास भवति तत्रापि तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् हिंसा भवति।

सूत्रार्थ—यद्यपि प्रगट मे आप से ही मरे हुये भैंस बैलादिकों का मास होता है, किन्तु वहां भी, अर्थात् उक्त मास के भक्षण मे भी उस मास के आश्रित रहने वाले निगोदिया जीवों के मरने से हिंसा होती है [बहुत से बौद्धादि लोगों का कहना है कि जीव को मार कर मास खाना पाप है पर स्वय मरे हुये के मास खाने मे कोई पाप नहीं—उनका खण्डन भी हो गया है क्योंकि उसमे भी निगोदिया जीवो की हिंसा तो होती ही है]।

आमास्वपि पक्कास्वपि विपच्यमानासु मासपेशीपु ।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीना निगोतानाम् ॥६७॥

अन्वय —आमासु पक्कासु अपि विपच्यमानासु अपि मासपेशीपु तज्जातीना निगोताना सातत्येन उत्पाद (भवति)।

सूत्रार्थ—कच्ची, पकी हुवी, तथा पकती हुईभी मास की डलियों मे उसी जाति के निगोदिया जीवो का निरन्तर ही उत्पाद होता रहता है। अत.

आमा वा पक्का वा खादति य स्पृशति वा पिशितपेशी ।
स निहन्ति सततनिचित पिण्ड बहुजीवकोटीनाम् ॥६८॥

अन्वय —अत य आमा वा पक्का पिशितपेशी खादति वा स्पृशति, स सततनिचित बहुजीवकोटीना पिण्ड निहन्ति।

सूत्रार्थ—इसलिये जो कची अथवा पकी हुई मांस की डली को

खाता है अथवा छूता भी है, वह निरन्तर एकत्रित हुवे बहुत जीव समूहों के पिण्ड को हनता है (नाश करता है)।

मधु त्याग का निरूपण सूत्र ६९-७० तक २

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मको भवति लोके ।
भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्त ॥६९॥

अन्वय—लोके मधुशकल अपि मधुकरहिंसात्मक भवति । यः मूढधीक मधु भजति सः अत्यन्तं हिंसक भवति ।

सूत्रार्थ—इस लोक में मधु (शहद) का एक कण भी मक्खियों की हिंसारूप होता है । इसलिये जो मूर्खबुद्धि शहद को खाता है वह अत्यन्त हिंसक है ।

स्वयमेव विगलित यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात् ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिना घातात् ॥७०॥

अन्वय—यः मधुगोलात् छलेन वा स्वयमेव विगलित गृह्णीयात् तत्रापि तदाश्रयप्राणिना घातात् हिंसा भवति ।

सूत्रार्थ—जो मधु के छत्ते से कपट से अथवा मक्खियों द्वारा स्वयमेव उगली हुई शहद ग्रहण की जाती है, वहां भी उसके आश्रयभूत प्राणियों के घात से हिंसा होती है ।

उपसंहार

मधु मद्य नवनीत पिशित च महाविकृतयस्ताः ।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ॥७१॥

अन्वय—मधु मद्य नवनीत च पिशित महाविकृतय । ताः व्रतिना न वल्भ्यन्ते (यतः) तत्र तद्वर्णा जन्तव (सन्ति) ।

सूत्रार्थ—शहद, शराव, मक्खन और मांस महाविकार रूप हैं । ये चारों पदार्थ व्रती द्वारा खाने योग्य नहीं हैं क्योंकि उनमे उसी रंग के जीव होते हैं (और उनके खाने से वे मर जाते हैं) ।

पाच उदम्बर फलो का त्याग सूत्र ७२-७३ तक २

योनिरुदुम्बरयुग्म प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि ।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषाम् तद्भक्षणे हिंसा ॥७२॥

अन्वय —उदम्बरयुग्म प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि त्रसजीवाना योनि । तस्मात् तद्भक्षणे तेषा हिंसा (भवति) ।

सूत्रार्थ—(१) गूलर या ऊमर (२) वट या वड (३) प्लक्ष या पाकर (४) कठूमर या अंजीर (५) पिप्पल या पीपल ये उदम्बर फल त्रस जीवो की योनि (रहने का स्थान-जन्म स्थान) हैं । इसलिये उनके खाने मे उन त्रस जीवों की हिंसा होती है ।

यानि तु पुनर्भवेयु. कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि ।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ॥७३॥

अन्वय—तु पन यानि शुष्काणि कालोच्छिन्नत्रसाणि भवेयु । तानि अपि भजत विशिष्टरागादिरूपा हिंसा स्यात् ।

सूत्रार्थ—और फिर भी सूखे हुये पाच उदम्बर फलों को कि जो जीवों से रहित हो जावें-उनको भी खाने वाले के विशेषरागादिरूप-भाव हिंसा होती ही है (अत सूखे हुओ के खाने का भी त्याग करना चाहिये) ।

उपसंहार (मूलगुण)

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधिय. ॥७४॥

अन्वय —अनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि अमूनि अष्टौ परिवर्ज्य शुद्धधिय जिनधर्मदेशनाया पात्राणि भवन्ति ।

सूत्रार्थ—अनिष्ट, दुस्तर और पापों के स्थान इन आठ पदार्थों को छोडकर निर्मलबुद्धिवाले पुरुष जिनधर्म के उपदेश के पात्र होते हैं ।

भावार्थ—इनके त्याग बिना नाम जैन या स्थापना जैन भी नहीं हो सकता-इनको प्रतिज्ञापूर्वक त्यागने से वह नाम जैन हो जाता

है और फिर रत्नत्रय धर्म के सुनने और ग्रहण करने का पात्र होता है। बहुत मोटे रूप से प्राथमिक शिष्य के लिये ये मूल गुण कहे हैं।

अहिंसा अणुव्रत का स्वरूप ७५-७६-७७ = ३

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम् ।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु ॥७५॥

अन्वय—ये अहिंसारूपं धर्मं संशृण्वन्तः अपि स्थावरहिंसां परित्यक्तुं असहाः, ते अपि त्रसहिंसां मुञ्चन्तु।

सूत्रार्थ—जो अहिंसा रूपी धर्म को सुनते हुये भी स्थावर जीवों की हिंसा को छोडने के लिये असमर्थ हैं, वे भी त्रस जीवों की हिंसा को छोड़ें।

भावार्थ—गुरुदेव फरमाते हैं कि जिन्होंने सूत्र ४३ से यहां तक अहिंसामयी धर्म को सुना, उसके स्वरूप को समझा और जाना, उन्हें उचित तो यही है कि वे हिंसा के सर्वथा त्यागी हों अर्थात् त्रस स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा का त्याग करें पर जो ऐसा करने में असमर्थ हैं—वे भी त्रसहिंसा को तो अवश्य सर्वथा छोडें। सार यह है कि त्रसस्थावर दोनों प्रकार की हिंसा के छोडने को महाव्रत कहते हैं और केवल त्रसहिंसा के छोडने को अणुव्रत कहते हैं। ऐसा अलौकिक अहिंसामयी धर्म को सुनकर उचित तो यह है कि महाव्रत को धारण करे पर अणुव्रत को तो धारण करे ही करे। अब इसी बात को सैद्धान्तिक रूप से स्पष्ट करते हैं—

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा ।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा ॥७६॥

अन्वय—औत्सर्गिकी निवृत्तिः कृतकारितानुमननैः वाक्कायमनोभिः नवधा इष्यते। एषा अपवादिकी तु विचित्ररूपा (अस्ति)।

सूत्रार्थ—उत्सर्गरूप त्याग (पूर्णत्याग-महाव्रत) कृत, कारित,

अनुमोदना, मन, वचन, काय करके नव प्रकार से कहा जाता है। और यह अपवादरूप त्याग (एकदेश त्याग–अणुव्रत) तो अनेकरूप है।

भावार्थ—अब गुरुदेव उस त्याग की विधि बतलाते हैं कि एक पूर्ण त्याग होता है जिसको उत्सर्ग त्याग कहते हैं। यह कृत, कारित, अनुमोदना, मन, वचन काय नौ कोटि पूर्वक किया जाता है और एक एकदेशत्याग होता है जिस को अपवाद त्याग कहते हैं। अपवाद का अर्थ है Exception Case अर्थात् जो पूर्ण त्याग मे असमर्थ होता है–वह कुछ अश मे त्याग करता है–उसको अपवाद त्याग कहते हैं। यह नौ कोटि में से कुछ काटि से त्याग किया जाता है। यह त्याग की विधि है जिसका इस सूत्र मे निरूपण किया गया है। त्रसहिंसा का त्याग तो मुनि श्रावक दोनो नौ काटि से ही करते हैं पर स्थावर हिंसा मे इतनी विशेषता है कि उसे मुनि नव कोटि पूर्वक करते हैं और श्रावक कुछ कोटि से त्याग करते हैं सो अब उसी का हेतुपूर्वक निरूपण करते हैं।

स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणा सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ॥७७॥

अन्वय—सम्पन्नयोग्यविषयाणा गृहिणा स्तोकैकेन्द्रियघातात् शेषस्थावरमारणविरमण अपि करणीय भवति।

सूत्रार्थ—योग्य विषयों के सेवन करने वाले गृहस्थों के द्वारा थोडे एकेन्द्रिय घात के अतिरिक्त शेष एकेन्द्रिय जीवों के मारने का त्याग भी करने योग्य है।

भावार्थ—इस सूत्र मे यह बताया है कि मुनि तो भिक्षावृत्ति से भोजन करते हैं–अत उन्हें तो हिंसा से कुछ प्रयोजन नहीं पर श्रावक को तो भोगोपभोग का साधन करना पडता है और उसमे स्थावर हिंसा से वचना अनिवार्य है जैसे जल मे भोजन वनायेगा तो जलकाय के जीव की हिंसा तो होगी ही–अग्नि वुझायेगा तो अग्निकाय के जीव की हिंसा होगी–सब्जी तरकारी बनायेगा तो वनस्पति काय के जीव की हिंसा

होगी-बहुत न सही थोडी, अत श्रावक त्रस हिंसा को तो मुनिवत् नौ काटि पूर्वक ही त्याग देता है पर स्थावर हिंसा को उतनी छोडता है जिससे कि योग्य विषयों की पूर्ति हो सके अर्थात् पेट पल सके-शेष स्थावर हिंसा का वह भी कुछ काटि से त्याग करता ही है। यह श्रावक के अहिंसाणुव्रत धारण करने की विधि है जिसका इस सूत्र मे उल्लेख किया है। "सम्पन्नयोग्यविषयाणा गृहिणा"—का ऐसा भाव है कि इन अणुव्रतो को धारण करने वाले जीव पचमगुणस्थानवर्ती होते हैं—वे ज्ञानी होते हैं—वस्तु स्वरूप के जानकार होते हैं-महावैरागी और विवेकी होते हैं-वे अपने भोगोपभोग के पदार्थों मे त्रसहिंसा जनक पदार्थों का तो प्रयोग ही नहीं करते-बहुस्थावरघात अर्थात् अनन्तकाय निगोदिया जीव सहित वनस्पति का भी वे प्रयोग नहीं करते। केवल उन पदार्थों का प्रयोग करते हैं जिनमे प्रथम तो हिंसा ही न हो-यदि हो भी तो कम से कम स्थावर हिंसा हो-अत वे अपनी आवश्यकताओं को विचार कर और योग्य विषयों के सम्पन्न करने मे जितनी कम से कम स्थावर हिंसा होती है-उसको छोडकर शेष स्थावर हिंसा का भी प्रसन्नतापूर्वक त्याग करते हैं-ये उनका अहिंसाणुव्रत है। धन्य है ऐसे विवेकी श्रावकों को।

हिंसा (अधर्म) में अहिंसा (धर्म) मानने वालों का खण्डन

(सूत्र ७८ से ९० तक १३)

भूमिका—यह कहा जा चुका है कि अहिंसाणुव्रत को धारण करने वाला श्रावक त्रसहिंसा का सर्वथा त्यागी होता है। नौ कोटिपूर्वक त्यागी होता है। अब यह कहते हैं कि जगत् मे बहुत से मतमतान्तर त्रसहिंसा मे पाप (अधर्म) तो क्या उलटा धर्म मानते हैं

और उसको अनेक खोटी युक्तियों तथा दृष्टातों से सिद्ध भी करते हैं–पर अहिंसाणुव्रती तो उनकी खोटी युक्तियों को देखकर भी अहिंसा से नहीं डिगता। अधिक क्या कहें–वह तो प्राण जाने पर भी किसी त्रसजीव की हिंसा नहीं करता। शरीर की निरोगता के लिये दवाई तक मे भी त्रसहिंसा जनक पदार्थ का प्रयोग नहीं करता। उस अहिंसाणुव्रती श्रावक की त्रसहिंसा के त्याग की दृढता को दिखलाने के लिये त्रसहिंसा मे धर्म माननेवालों के या त्रसहिंसा को न्यायसगत मानने वालों के ११ उदाहरण उपस्थित करते हैं—

अमृतत्त्वहेतुभूत परममहिंसारसायन लब्ध्वा।
अवलोक्य वालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम् ॥७८॥

अन्वय'—अमृतत्त्वहेतुभूत परम अहिंसारसायन लब्ध्वा वालिशाना असमञ्जस अवलोक्य आकुलै न भवितव्यम्।

सूत्रार्थ—अतीन्द्रिय मोक्षसुख को कारणभूत उत्कृष्ट अहिंसारूपी रसायन को प्राप्त करके अज्ञानी जीवों के असङ्गत वर्ताव को देखकर व्याकुल नहीं होना चाहिये।

भावार्थ—जिस श्रावक ने सूत्र ४३ से यहा तक अहिंसामयी धर्म को सुना, जाना, श्रद्धान किया तथा उसे अतीन्द्रिय सुख रूप मोक्ष का कारण जानकर अणुव्रत रूप से ग्रहण भी किया–उसकी दृढ़ता का इस सूत्र मे निरूपण करते हैं कि त्रसहिंसा (अधर्म) मे अहिंसा (धर्म) मानने वाले अज्ञानियों की (अन्यमतियों की) अनुचित क्रियाओं को (हिंसामयी धर्म क्रियाओं को) देखकर वह कभी भी खेदभिन्न नहीं होता अर्थात् उन्हे धर्म नहीं मानता या अपने श्रद्धान–ज्ञान–आचरण से नहीं डिगता [तथापि अब त्रसहिंसा मे धर्म मानने वाले मतों मे से ११ मतों के दृष्टांत उपस्थित करते हैं ताकि श्रावक को हिंसा मे धर्म मानने वालों का भी कुछ परिचय हो जावे और उससे वह महान् भूल न हो सके]।

पहला खोटा मत

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति ।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्या ॥७९॥

अन्वय — भगवद्धर्मः सूक्ष्मः । धर्मार्थं हिंसने दोषः नास्ति ।' इति धर्ममुग्धहृदयैः भूत्वा जातु शरीरिणः न हिंस्याः ।

सूत्रार्थ– (१) "परमेश्वरकथित धर्म बहुत बारीक है, इसलिये धर्म के निमित्त हिंसा करने मे दोष नहीं है" ऐसे धर्म में मूढ हृदय सहित होकर कदाचित् शरीरधारी जीव नहीं मारने चाहियें ।

भावार्थ—(१) कुछ अज्ञानी लोग देवी पर बकरे इत्यादि की बली (हिंसा) करने मे धर्म कहते हैं । उनका कहना है कि धर्म बहुत सूक्ष्म वस्तु है । उसका स्वरूप मनुष्य नहीं जान सकता । वह भगवान् की आज्ञामात्र है और भगवान् की आज्ञा है कि धर्म के निमित्त हिंसा करने मे भी हिंसा का दोष नहीं लगता । सो ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसी निस्सार बातों मे आकर जीवों का वध नहीं करना चाहिये । यहा हमने केवल दृष्टांतमात्र दिया है । इसी प्रकार धर्मार्थ बहुत स्याने अनेक प्रकार की हिंसा करने को स्त्रियों वगैरह को कह देते हैं और धर्म से अनभिज्ञ भोले प्राणी उनकी बातों में आकर हिंसा कर डालते हैं । उलटा धर्म की बजाय अधर्म करते हैं सो ऐसा कदापि नहीं करना चाहिये ।

दूसरा खोटा मत

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम् ।
इति दुर्विवेककलिता धिषणा न प्राप्य देहिनो हिंस्याः ॥८०॥

अन्वय —"धर्मः हि देवताभ्यः प्रभवति । इह ताभ्यः सर्वं प्रदेयं" इति दुर्विवेककलिता धिषणा प्राप्य देहिनः न हिंस्याः ।

सूत्रार्थ—(२) 'वास्तव मे धर्म देवताओं से उत्पन्न होता है । इसलिये इस लोक मे उनके लिये सब ही देदेना योग्य है ।' ऐसे अविवेक से गृहीत बुद्धि को पा करके शरीरधारी जीव नहीं मारने चाहियें ।

भावार्थ—(२) कुछ मतमतान्तर यज्ञ मे, हिंसा मे धर्म मानते हैं। उनका कहना है कि यज्ञ मे होम किया जाने वाला जीव सीधा स्वर्ग जाता है। यज्ञ करना देवताओं की आज्ञा है। अत यज्ञ मे की गई हिंसा हिंसा नहीं है। सो ऐसे मूर्खों की बातो मे आकर कभी जीवों का वध नहीं करना चाहिये।

तीसरा खोटा मत

पूज्यनिमित्त घाते छागादीना न कोऽपि दोषोऽस्ति।
इति सप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसज्ञपनम् ॥८१॥

अन्वय —'पूज्यनिमित्त छागादीना घाते क अपि दोष नास्ति।" इति सप्रधार्य अतिथये सत्त्वसज्ञपन न कार्यं।

सूत्रार्थ—(३) "पूज्य पुरुष के लिये बकरा आदिक जीवों के घात करने मे कोई भी दोष नहीं है" ऐसा विचार करके अतिथि (बडे मेहमान) के लिये जीव का घात नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—(३) यहा मुसलिम या सिक्ख आदि धर्म की ओर सकेत है। उनका कहना है कि मुहम्मद आदि बडे पुरुषों के घर आने पर उनके सत्कारार्थ बकरे के मास का भोजन देना हिंसा नहीं–धर्म है। सो आचार्य देव कहते हैं कि वह अतिथि सत्कार नहीं, हिंसा है, पाप है। ऐसा कदापि नहीं करना चाहिये।

चौथा खोटा मत

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद् वरमेकसत्त्वघातोत्थम्।
इत्याकल्य्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिसन जातु ॥८२॥

अन्वय — बहुसत्त्वघातजनितात् अशनात् एकसत्त्वघातोत्थ वर' इति आकल्य्य जातु महासत्त्वस्य हिंसन न कार्यं।

सूत्रार्थ—(४) "बहुत प्राणियों के घात से उत्पन्न हुये भोजन से एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन अच्छा है" ऐसा विचार करके कदाचित् भी बडे जीव का घात नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—(४) कुछ मूर्खो का कहना है कि एक २ गेहू के दाने मे एक एक जीव होता है और उसके खाने से वह मर जाते हैं। इसमे बहुत बडा पाप होता है। अत इतने जीवों का घात करने की बजाय यदि एक बडे भैंसे इत्यादिक का वध करके खा लिया जाय तो वह अच्छा है। सो ऐसी मूर्खताई की बातों मे आकर कभी भी जीवों को नहीं मारना चाहिये।

पांचवा खोटा मत

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्य न हिंसन हिंस्रसत्त्वानाम् ॥८३॥

अन्वय—'अस्य एकस्य एव जीवहरणेन बहूना रक्षा भवति' इति मत्वा हिंस्रसत्त्वाना हिंसन न कर्त्तव्य।

सूत्रार्थ—(५) "इस एक ही जीव के मारने से बहुत से जीवों की रक्षा होती है" ऐसा मान कर हिंसक जीवों का भी हिंसन नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—(५) यह बिल्ली दिन रात चूहों को मारती है। अतः इसके मारने से चूहों की रक्षा होगी। इत्यादि विचार करके हिंसा करने वाले बिल्ली, कुत्ता, साप बिच्छू, जगल के सिंह इत्यादि नहीं मारने चाहियें।

छटा खोटा मत

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपाप।
इत्यनुकम्पा कृत्वा न हिंसनीया शरीरिणो हिंसा ॥८४॥

अन्वय—बहुसत्त्वघातिन अमी जीवन्त गुरुपाप उपार्जयन्ति इति अनुकम्पा कृत्वा हिंस्रा' शरीरिण न हिंसनीया।

सूत्रार्थ—(६) "बहुत जीवो के घाती ये जीव जीते रहेंगे तो अधिक पाप उपार्जन करेंगे" इस प्रकार की दया करके हिंसक जीवों को नहीं मारना चाहिये।

भावार्थ—(६) यह बिल्ली दिन रात चूहों को मार कर महान् पाप इकट्ठा करती है। अत यदि इसे मार दिया जाये तो वह भारी पाप से बच जायेगी—ऐसा विचार करके भी हिंसा करने वाले बिल्ली, साप, बिच्छू, सिंह इत्यादिक को नहीं मारना चाहिये।

सातवा खोटा मत

बहुदु खासञ्ज्ञपिता प्रयान्ति त्वचिरेण दु खविच्छित्तिम्।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दु खितोऽपि हन्तव्या ॥८५॥

अन्वय—तु बहुदु खा सञ्ज्ञपिता अचिरेण दु खविच्छित्ति प्रयान्ति इति वासनाकृपाणी आदाय दु खिन अपि न हन्तव्या।

सूत्रार्थ—(७) और "अनेक दु खों से पीडित जीव मारे जाने पर शीघ्र ही दु ख से छुटकारे को प्राप्त हो जावेंगे' इस प्रकार की वासना रूप तलवार को लेकर दु खी जीव भी नहीं मारने चाहियें।

भावार्थ—(७) जैसे एकबार एक दु खी कुत्ते को देखकर महात्मा गाधी ने गोली से मरवा दिया था—इस दया भाव से कि मर कर यह दु ख से छूट जायेगा—सो ऐसी भूल भी कदापि नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार दु खी जीवों को नहीं मारना चाहिये।

आठवा खोटा मत

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हता सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्र सुखिना घाताय नादेय. ॥८६॥

अन्वय—सुखावाप्ति कृच्छ्रेण (भवति) (तथा) हता सुखिन सुखिन एव भवन्ति। सुखिना घाताय इति तर्कमण्डलाग्र. नादेय।

सूत्रार्थ—(८) "सुख की प्राप्ति कष्ट से होती है और मारे हुए सुखी जीव सुखी ही होवेंगे।" सुखियों के घात के लिये इस प्रकार कुतर्क का खड्ग अगीकार नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—(८) कोई २ ऐसा कुतर्क (व्याप्ति) लगाते हैं कि जो यहा दु.खी अवस्था मे मरता है वह नियम से नरकादि को प्राप्त होकर

अधिक दुःखी होता है और जो यहां सुखी अवस्था में मरता है वह नियम से स्वर्गादि मे जाकर सुखी ही होता है। अतः सुखी जीव को मार देना चाहिये ताकि वह बहुत समय के लिये परलोक में सुखी हो जाय। ऐसी कुतर्क करके सुखी जीवों को नहीं मारना चाहिये।

नवा खोटा मत

उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरो शिष्येण शिरो न कर्त्तनीय सुधर्ममभिलषिता ।।८७।।

अन्वय —सुधर्म अभिलषता शिष्येण भूयस अभ्यासात् उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य स्वगुरोः शिर न कर्त्तनीय।

सूत्रार्थ—(९) अच्छे धर्म को चाहने वाले शिष्य के द्वारा अधिक अभ्यास से सुगति करने में कारणभूत समाधि का सार प्राप्त करने वाले अपने गुरु का मस्तक नहीं काटा जाना चाहिये।

भावार्थ—(९) शास्त्रों मे लिखा है कि समाधि से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अत. यदि समाधि को प्राप्त गुरु का सिर काट दिया जायेगा तो वह मोक्ष को प्राप्त हो जायेगा। इस प्रकार के मिथ्या विचार मे अपने गुरु की हिंसा नहीं करनी चाहिये।

दसवा खोटा मत

धनलवपिपासिताना विनेयविश्वासनाय दर्शयतां।
झटितिघटचटकमोक्ष श्रद्धेय नैव खारपटिकाना ।।८८।।

अन्वय —धनलवपिपासिताना विनेयविश्वासनाय दर्शयता खारपटिकाना झटितिघटचटकमोक्ष न एव श्रद्धेय।

सूत्रार्थ—(१०) थोडे से धन के प्यासे और शिष्यों को विश्वास उत्पन्न करने के लिये नाना प्रकार की रीतिया दिखलाने वाले खारपटिकों के शीघ्र ही घट के फूटने से चिडिया की मोक्ष के समान मोक्ष को श्रद्धान मे नहीं लाना चाहिये।

भावार्थ—(१०) खारपटिक नाम का एक मत है। उसका कहना है कि जैसे एक चिडिया जब तक घडे मे बन्द है तब तक कैद मे है। घडे के फूटने से वह आजाद होकर उड जाती है। उसी प्रकार यह आत्मा शरीर मे कैद है। शरीर के फोड देने से आत्मा मुक्त हो जाता है। उन्होंने ऐसा सिद्धात केवल लोभवश बनाया है। वे शिष्यो को इस प्रकार की शिक्षा देते हैं कि सब धन उनसे ले लेते हैं और उन्हें–आत्मा को शरीर से अलग करके मोक्ष के लिये नदी इत्यादिक मे धक्का दे देते हैं। सो आचार्य देव कहते हैं कि ऐसे पापियो के जाल मे फसकर अपनी हिंसा नहीं होने देनी चाहिये।

ग्यारहवा खोटा मत

दृष्ट्वापर पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम् ।
निजमासदानरभसादालभनीयो न चात्मापि ।।८६।।

अन्वय —च अशनाय पुरस्तात् आयान्त अपर क्षामकुक्षि दृष्ट्वा निजमासदानरभसात् आत्मा अपि न आलभनीय ।

सूत्रार्थ—(११) और भोजन के लिये सम्मुख आये हुये अन्य खाली पेटवाले (भूखे) पुरुष को देख करके अपने शरीर का मास देने की शीघ्रता से अपने को भी नहीं घातना चाहिये।

भावार्थ—(११) अन्य मतियो के शास्त्र मे एक कथा आती है कि भगवान् एक भक्त के पास भूखे का वेष धारण करके आये और उस से कहा कि हम भूखे हैं हमे अपना मास दे। उस भक्त ने झट अपना मास काटकर उन्हें दे दिया–सो आचार्य कहते हैं कि ऐसी मूर्खता करके अपना घात नहीं करना चाहिये अर्थात् किसी को भूखा देखकर उसका पेट भरने के लिये अपना खून नहीं करना चाहिये।

उपसहार

को नाम विशति मोह नयभङ्गविशारदानुपास्य गुरून् ।
विदितजिनमतरहस्य' श्रयन्नहिंसा विशुद्धमतिः ।।९०।।

अन्वय —नयभङ्गविशारदान् गुरून् उपास्य विदितजिनमत-रहस्य: को नाम विशुद्धमति अहिंसा श्रयन् मोहं वियति ।

सूत्रार्थ—नयभङ्गो के जानने मे प्रवीण गुरुओं की उपासना करके जिनमत के रहस्यों का जानने वाला कौनसा निर्मल बुद्धिधारी अहिंसा को धर्म जान अगीकार करता हुआ पूर्वोक्त मतों मे मूढ़ता को प्राप्त होगा ? कोई नहीं ।

भावार्थ—गुरु देव फर्माते हैं कि जिस किसी श्रावक ने हमारे पूर्व सूत्र न० ५८ के आदेशानुसार नय भङ्गों के प्रयोग मे निपुण अनेकान नमंज्ञो गुरुओं की सेवा की है । उनकी सेवा से जिसने पूर्वसूत्र न० ४३ से ५७ तक के अनुसार जिनमत का रहस्य जान लिया है अर्थात् जो भावहिंसा, द्रव्यहिंसा के भेद को जानता है । प्रमत्तयोग-अप्रमत्तयोग को जानता है । हिंस्य, हिंसक हिंसा और हिंसा के फल को जानता है । इनके जानने से जिसकी बुद्धि वस्तु तत्त्व के जानने मे अत्यन्त निर्मल तथा स्फुट है (अर्थात् जो सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी है) तथा जिसने अहिंसा को धारण भी कर लिया है (अर्थात् अहिंसाणुव्रती भी है) ऐसा कौन पुरुष (श्रावक) उनकी मिथ्या मान्यताओं मे मोहित होगा–डिगेगा–कोई नहीं अर्थात् वह कदापि किसी त्रसहिंसा को नहीं करेगा । गुरुदेव ने यहा के प्रकरण को अपने पूर्वसूत्र न०५८, ५९, ६० से जोड दिया है । आप इसी ग्रन्थ के इन तीन पूर्वसूत्रों को अर्थ भावार्थ सहित पुन पढिये तो यह प्रकरण आपको बिलकुल स्पष्ट ख्याल मे आजायेगा ।

(१) नयभङ्गविशारदान् गुरून्—का भाव है–नय भगो के प्रयोग मे निपुण गुरु–अनेकात ज्ञान के जानकार जैन गुरु ।

(२) विदितजिनमतरहस्य.—का अर्थ है कि जिसने जिनमत का रहस्य जान लिया है । अर्थात् हिंसा, अहिंसा का लक्षण सहित स्वरूप, उनके पूर्व ११ दृष्टांतों अनुसार अनेक प्रयोग, हिंस्य, हिंसक

हिंसा, हिंसाफल का स्वरूप आदि जानकर जो अनेकात में निपुण हो गया है ऐसा शिष्य ।

(३) विशुद्धमतिः—का भाव है कि सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान से जिसकी बुद्धि निर्मल है अर्थात् जो सम्यग्दृष्टी तथा सम्यग्ज्ञानी भी है ।

(४) अहिंसा श्रयन्—का भाव है कि जो अहिंसाणुव्रत का धारी पचम गुणस्थानवर्ती भी है ।

(५) को नाम विशति मोह—का भाव है जो सम्यग्दृष्टि है–सम्यग्ज्ञानी है–अणुव्रती भी है–ऐसा अत्यन्त निर्मलबुद्धि का धारक कौन चतुर श्रावक भला उन ११ खोटे मतों की इन हिंसा मे अहिंसा बताने वाली बातों मे फसगा–कोई नहीं । वह तो उन्हें बकवास ही समझेगा । यहा तक अहिंसा अणुव्रत का तथा अहिंसाणुव्रत को धारण करनेवाले दृढचित श्रावक का वर्णन किया अर्थात् श्रावक धर्म में पहला अणुव्रत समाप्त हुआ ।

अहिंसाणुव्रत पर प्रश्नोत्तर प्रमाण सूत्र स०

प्रश्न ३३—जैनो के मूलगुण बताओ ?

उत्तर—मद्य, मास, मधु, मक्खन और पाच उदम्बर फलों का त्याग–प्रारम्भिक जैनो के मूलगुण हैं । इनके त्याग विना नाम जैन भी नहीं होता–तथा इनके त्याग सहित ५ पापों के त्याग को प्रौढ जैनों के मूलगुण कहते हैं । (६१ से ७४ तक तथा रत्नकरण्ड० ६६)

प्रश्न ३४—अहिंसा महाव्रत का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—त्रस स्थावर जीवों के घात का मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना–नौ कोटि पूर्वक त्याग करना महाव्रत है । (७६)

प्रश्न ३५—अहिंसा अणुव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर–त्रस जीवों की हिंसा का सर्वथा त्याग करना तथा स्थावर जीवों की हिंसा का अपनी शक्ति अनुसार त्याग करना अर्थात् योग्य भोगोपभोग मे होने वाली स्थावर हिंसा को छोड़कर शेष का त्याग करना ज्ञानी श्रावकों का पहला अहिंसाणुव्रत है। (७५, ७६, ७७)

प्रश्न ३६—अन्य ११ मत जो हिंसा मे अहिंसा मानते हैं उनके यहा दिखलाने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—अहिंसा अणुव्रत का धारी जैन गृहस्थ त्रसहिंसा का सर्वथा त्यागी होता है। अतः वह किसी भी प्रकार से त्रसहिंसा नहीं करता–यही उनके यहा दिखलाने का प्रयोजन है। वे अहिंसाणुव्रत के निरूपण के अवान्तरगत ही दिखलाये गये हैं। (७८ से ९० तक)

अहिंसाणुव्रत का निरूपण समाप्त हुआ .

सत्याणुव्रत का निरूपण

(सूत्र ९१ से १०१ तक ११)

असत्य का लक्षण (स्वरूप)

यदिद प्रमादयोगादसदभिधान विधीयते किमपि ।
तदनृतमपि विज्ञेय तद्भेदा सन्ति चत्वार• ॥९१॥

अन्वय —यत् किं अपि प्रमादयोगात् इद असदभिधान विधीयते तत् अनृत अपि विज्ञेय। तद्भेदा चत्वार• सन्ति। (प्रमत्तयोगात् असदभिधान अनृतम्)।

सूत्रार्थ—जो कुछ भी प्रमाद (कषाय) के योग (सवन्ध) से यह असत् कथन किया जाता है वह झूठ जानना चाहिये। उस झूठ के भेद चार हैं। (१) नास्ति रूप झूठ (२) अस्तिरूप झूठ (३) विपरीत झूठ (४) अयोग्य शब्दरूप झूठ। अब इनका क्रमश स्पष्टीकरण स्वय ग्रन्थकार करते हैं।

(१) नास्ति रूप झूठ

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निपिद्धयते वस्तु ।
तत्प्रथममसत्य स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥९२॥

अन्वय —यस्मिन् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सत् अपि वस्तु निषिद्धयते, तत् प्रथम असत्य स्यात् । यथा अत्र देवदत्त' नास्ति ।

सूत्रार्थ—जिस वचन मे अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव से विद्यमान भी पदार्थ निषेध (इन्कार) किया जाता है । वह प्रथम असत्य है जैसे यहा देवदत्त नहीं है ।

भावार्थ—जैसे कोई वस्तु है और किसी ने पूछा कि वह वस्तु है । तो होते हुये भी कह देना कि नहीं है जैसे यहा देवदत्त है और किसी ने आकर पूछा कि देवदत्त यहा है ? तो कह दिया कि नहीं है–यह पहला नास्तिरूप झूठ है । द्रव्य क्षेत्र काल भाव का ऐसा सूक्ष्म अर्थ है कि वस्तु का जैसा भी–जिस प्रकार से भी स्वरूप है–ठीक वैसा और उसी रूप न कहकर किसी अश मे या किसी प्रकार से भी उसके स्वरूप से इन्कार करना । यह विद्वानों के समझने की सूक्ष्म बात है । जो वस्तु के द्रव्य-क्षेत्र काल भाव का स्वरूप जानते हैं–वे स्वय समझ गये होंगे । द्रव्य क्षेत्र काल भाव का स्वरूप ग्रथराज श्री पचाध्यायी पहली पुस्तक मे सविस्तार कहा जा चुका है । यह द्रव्यानुयोग का विषय है ।

(२) अस्तिरूप झूठ

असदपि हि वस्तुरूप यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः ।
उद्भाव्यते द्वितीय तदनृतमस्मिन् यथास्ति घट ॥९३॥

अन्वय —हि यत्र तै परक्षेत्रकालभावैः असत् अपि वस्तुरूप उद्भाव्यते तत् द्वितीय अनृत स्यात् । यथा अस्मिन् घट' अस्ति ।

सूत्रार्थ—वास्तव मे जिस वचन में उस पर द्रव्य क्षेत्र काल भाव से अविद्यमान भी वस्तु का स्वरूप प्रगट किया जाता है वह दूसरा असत्य होता है जैसे यहां पर घड़ा है ।

भावार्थ—कोई वस्तु बिलकुल नहीं है और किसी के पूछने पर कह देना कि 'है' जैसे यहां घड़ा नहीं है और किसी ने आकर पूछा कि यहा घडा है या आपके पास घडा है तो नहीं होते हुये भी कह देना कि 'है।' यह अस्ति रूप दूसरा झूठ है।

(३) विपरीत झूठ

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्।
अनृतमिद च तृतीय विज्ञेय गौरिति यथाश्व ॥९४॥

अन्वय—च यस्मिन् स्वरूपात् सत् अपि वस्तु पररूपेण अभिधीयते, इद तृतीय अनृत विज्ञेय यथा गो अश्व इति।

सूत्रार्थ—और जिस वचन मे अपने स्वरूप से (चतुष्टय से–द्रव्य क्षेत्र काल भाव से) विद्यमान भी पदार्थ अन्य के स्वरूप से (चतुष्टय से–द्रव्य क्षेत्र काल भाव से) कहा जाता है–यह तीसरा असत्य जानना चाहिये जैसे बैल को घोड़ा है–ऐसा कहना।

भावार्थ—पदार्थ तो कोई और है और कह देना उसकी बजाय कोई और जैसे अपने पास बैल है और किसी ने पूछा कि आपके पास बैल है तो कह देना कि बैल तो नहीं है घोडा है। यह तीसरा विपरीत झूठ है।

(४) अयोग्य शब्द रूप झूठ

गर्हितमवद्यमयुतमप्रियमपि भवति वचनरूप यत्।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृत तुरीय तु ॥९५॥

अन्वय—तु यत् गर्हित अवद्यमयुत अपि अप्रिय त्रेधा वचनरूप भवति, सामान्येन इद तुरीय अनृत।

सूत्रार्थ—और जो गर्हित (निन्दनीय), सावद्य (पाप सहित) और अप्रिय (दूसरे को अच्छा न लगने वाला) इन तीन प्रकार वचनरूप होता है, सामान्यरूप से यह चौथा झूठ माना गया है।

भावार्थ—चौथा अयोग्य शब्द रूप झूठ है। उसके तीन भेद हैं। (१) गर्हित अर्थात् निन्दनीय वचन बोलना (२) सावद्य अर्थात् पापकारक वचन बोलना (३) अप्रिय अर्थात् जो दूसरे को बुरा लगे-ऐसा वचन बोलना। अब इनका स्पष्टीकरण ग्रथकार स्वय अगले सूत्रों द्वारा क्रमश करते हैं।

(क) गर्हित वचन रूप झूठ

पैशून्यहासगर्भ कर्कशमसमञ्जस प्रलपित च ।
अन्यदपि यदुत्सूत्र तत्सर्व गर्हित गदितम् ॥९६॥

अन्वय—पैशन्यहासगर्भं कर्कश असमञ्जस प्रलपित (तथा) अन्यत् अपि यत् उत्सूत्र तत्सर्वं गर्हित गदित।

सूत्रार्थ—चुगलीरूप, हास्ययुक्त, कठोर, अयोग्य, प्रलापरूप (गपशप) तथा और भी जो शास्त्रविरुद्ध वचन हैं वह सब गर्हित (निंदनीय) वचन कहा गया है। [उसके बोलने मे झूठ का पाप है तथा प्रमत्तयोग होने से वही हिंसा है]।

(ख) सावद्य वचन रूप झूठ

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्य्यवचनादि ।
तत्सावद्य यस्मात्प्राणिवधाद्या प्रवतन्ते ॥९७॥

अन्वय.—यत् छेदनभेदनमारणकर्पणवाणिज्यचौर्य्यवचनादि तत् सर्वं सावद्य यस्मात् प्राणिवधाद्या प्रवर्त्तते।

सूत्रार्थ—जो छेदने, भेदने, मारने, शोषण अथवा व्यापार, चोरी आदि के वचन हैं वह सब 'सावद्य' वचन है क्योकि इनमे प्राणियों के मरणादि की प्रवृत्ति पाई जाती है।

(ग) अप्रिय वचन रूप झूठ

अरतिकर भीतिकर खेदकर वैरशोककलहकरम् ।
यदपरमपि तापकर परस्य तत्सर्वमप्रिय ज्ञेयम् ॥९८॥

अन्वय.—यत् परस्य अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरं अपरं अपि तापकरं तत् सर्वं अप्रियं ज्ञेयं ।

सूत्रार्थ—जो वचन दूसरे जीवों को अप्रीति का करने वाला, भय का करने वाला, खेद का करने वाला, वैर शोक कलह का करने वाला तथा और भी किसी प्रकार के आताप (दु:ख) का करने वाला हो, वह सब अप्रिय जानना ।

झूठ हिंसा ही है—इसकी सिद्धि

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत् ।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति ॥९९॥

अन्वय—यत् अस्मिन् सर्वस्मिन् अपि प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं तस्मात् अनृतवचने अपि हिंसा नियतं समवतरति ।

सूत्रार्थ—क्योंकि इन सब ही वचनों मे प्रमत्तयोग ही एक कारण कहा गया है । इसलिये असत्य वचन मे भी हिंसा निश्चित् होती है ।

भावार्थ—झूठ और हिंसा का अविनाभाव है या झूठ हिंसा ही है। यहा यह शका हो सकती है कि इस सूत्र के लिखने की क्या आवश्यकता थी—उसका समाधान यह है कि गुरु महाराज पूर्वसूत्र न० ४२ मे यह कह कर आये हैं कि पाप तो केवल एक हिंसा ही है और धर्म एक अहिंसा ही है । झूठ आदि मे तो केवल हिंसा के आयतनों का ज्ञान कराया गया है या हिंसा के उदाहरणमात्र हैं सो उसी की यहा आकर पुष्टि की है कि पाप तो केवल एक प्रमत्तयोग है जिसे हिंसा कहते हैं और झूठ वचनों में क्योंकि नियम से प्रमत्तयोग रहता ही है—अतः वह सब हिंसा ही है । इस ग्रन्थ का सर्वस्वसार इतना ही है कि भावहिंसा (प्रमत्तयोग) ही अधर्म है तथा अहिंसा (अप्रमत्तयोग) ही धर्म है । इसी को प्रत्येक व्रत में सिद्ध करेंगे "अहिंसा परमो धर्मः" ।

सत्य के लक्षण मे दोष परिहार

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम् ।
हेयानुष्ठानादेरनुवदन भवति नासत्यम् ॥१००॥

अन्वय —सकलवितथवचनाना प्रमत्तयोगे हेतौ निर्दिष्टे सति हेयानुष्ठानादे अनुवदन असत्य न भवति ।

सूत्रार्थ—समस्त ही अनृत वचनों का प्रमत्तयोग हेतु निर्दिष्ट होने से हेय उपादेय आदि अनुष्ठानों का कहना झूठ नहीं होता है ।

भावार्थ—मुनिजन शास्त्र प्रवचन मे अथवा शास्त्र लिखने मे ऐसा कहते हैं कि 'परस्त्री का त्याग करो'—वह शब्द यद्यपि परस्त्री लपटी को अप्रिय (कटु। लगता है किन्तु वक्ता के प्रमत्तयोग का अभाव होने के कारण झूठ या हिंसा रूप नहीं है । कहीं शास्त्र मे व्रत तप इत्यादि त्याग का विधान बताना होता है। वे शब्द व्यसनियो को बुरे लगते हैं । पर उनमे वक्ता के प्रमत्तयोग का अभाव होने से झूठ या हिंसा नहीं है ऐसा यहा आशय है। अनृतवचन के सर्वथा त्यागी महामुनि अन्य श्रोतागणो के प्रति बारम्बार हेयोपादेय का उपदेश करते हैं, इसलिये उनके पाप निषेधक वचन, पापी पुरुषों को निष्ठुर और कटुक लगते हैं—तो भी प्रमत्त योग के अभाव से उन वक्ताओं को असत्य भाषण का दूषण नहीं लगता, क्योंकि प्रमादयुक्त अयथार्थ भाषण असत्य कहाता है ।

सत्य अणुव्रत का स्वरूप

भोगोपभोगसाधनमात्र सावद्यमक्षमा मोक्तुम् ।
ये तेऽपिशेषमनृत समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु ॥१०१॥

अन्वय —ये भोगोपभोगसाधनमात्र सावद्य मोक्तु अक्षमा, ते अपि शेष समस्त अपि अनृत नित्य एव मुञ्चन्तु ।

सूत्रार्थ—जो भोगोपभोग के साधनमात्र सावद्य वचन को

छोडने के लिये असमर्थ हैं, वे भी शेष सब ही असत्य भाषण को सदा छोड़ें।

भावार्थ—इसमे सत्याणुव्रत का स्वरूप कहा गया है कि जो ऊपर वतलाये हुये सब प्रकार के झूठ बोलने का त्याग ६ कोटि से नहीं कर सकते, वे भी केवल अपनी न्यायपूर्वक आजीविका में जितना कम से कम सावद्य झूठ का दोष लगता है। जिसके विना गृहस्थ जीवन का निर्वाह नहीं हो सकता, उतना मात्र केवल सावद्य झूठ रखकर शेष सब झूठ का अवश्य त्याग करें क्योंकि इसमे प्रमत्तयोग के सद्भाव के कारण महान् वध होता है। यह दूसरे सत्याणुव्रत का स्वरूप है।

सत्याणुव्रत पर प्रश्नोत्तर प्रमाण सूत्र सं०

प्रश्न ३७—झूठ का लक्षण क्या है ?

उत्तर—प्रमाद के योग से असत् कहना झूठ है। (९१)

प्रश्न ३८—झूठ के कितने भेद हैं ?

उत्तर—चार (१) नास्तिरूप झूठ (२) अस्तिरूप झूठ (३) विपरीत झूठ (४) अयोग्य शब्द रूप झूठ। (९१)

प्रश्न ३९—झूठ के भेदो का स्वरूप बताओ ?

उत्तर—(१) कोई वस्तु अपने पास होते हुये भी कह देना कि "नहीं है" यह नास्ति रूप झूठ है (२) कोई वस्तु अपने पास नहीं होते हुये भी कह देना कि "है" यह अस्ति रूप झूठ है (३) अपने पास वस्तु कुछ और है और कह देना कुछ और है यह विपरीत झूठ है (४) गर्हित, सावद्य और अप्रिय वचनों का बोलना अयोग्य शब्द रूप झूठ है। (९२, ९३, ९४, ९५)

प्रश्न ४०—अयोग्य शब्द रूप झूठ के कितने भेद हैं ?

उत्तर—तीन-(१) गर्हित वचन, (२) सावद्य वचन (३) अप्रिय वचन। (९५)

प्रश्न ४१—गर्हित वचन किसे कहते है ?

उत्तर—भाण्ड पुरुषों जैसे लज्जाजनक अशलील शब्द कहना तथा चुगली, हसी, गपशप इत्यादिक के शब्द कहना। सभ्यता, नीति, न्याय और शास्त्र मर्यादा से गिरे हुये शब्दो को गर्हित शब्द कहते हैं। (९६)

प्रश्न ४२—सावद्य वचन किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिस वचन से परजीव का घात हो, व्यापार चोरी आदि जिन कार्यों मे पाप होता हो–उनके करने का वचन कहना। किसी को छेदने, भेदने, वाधने, कैद करने, मारने के सब वचन सावद्य वचन हैं। (९७)

प्रश्न ४३—अप्रिय वचन कि हे कहते हैं ?

उत्तर—जो दूसरों को कडवे लगें, क्रोध उपजावें, उद्वेग, भय, शोक, कलह उत्पन्न करावें, दूसरों के गुप्त भेदों को खोलें, उन्हें हानि पहुचावें अथवा किसी प्रकार भी उन्हें दु:खकारक तापकारक हों–वे सब अप्रिय वचन हैं। (९८)

प्रश्न ४४—सत्य महाव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—जिन मे प्रमत्तयोग अवश्य पाया जाता है ऐसे उपर्युक्त सब प्रकार के असत्य वचनों का नवकोटि पूर्वक सर्वथा त्याग करना सत्यमहाव्रत है। (१०१)

प्रश्न ४५—सत्याणुव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—नीति न्यायपूर्वक धर्ममार्ग अनुकूल अपनी आजीविका चलाते हुये भोगोपभोग के साधनमात्र में जितना 'सावद्य वचन' छोडना असम्भव है, उसको छोडकर शेष सब प्रकार के झूठ का त्याग करना ज्ञानी श्रावको का दूसरा सत्याणुव्रत है। (१०१)

सत्याणुव्रत का स्वरूप समाप्त हुआ।

अचौर्याणुव्रत का निरूपण

(सूत्र १०२ से १०६ तक ५)

चोरी का लक्षण (स्वरूप)

अवितीर्णस्य ग्रहण परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत् ।
तत्प्रत्येय स्तेय सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥१०२॥

अन्वय —यत् प्रमत्तयोगात् अवितीर्णस्य परिग्रहस्य ग्रहण तत् स्तेय प्रत्येय च वधस्य हेतुत्वात् सैव हिंसा (अस्ति)। (प्रमत्तयोगात् अदत्तादान स्तेयम्)।

सूत्रार्थ—जो प्रमत्तयोग से विना दिये हुये परिग्रह का ग्रहण करना है वह चोरी जानना चाहिये और वध का कारण होने से वह हिंसा ही है। चोरी को हिंसा सिद्ध करने का कारण यह है कि पाप वास्तव मे हिंसा है—चोरी तो उस हिंसा का एक उदाहरण मात्र है जैसा कि पूर्व सूत्र न० ४२ मे कह कर आये हैं।

अर्था नाम य एते प्राणा एते वहिश्चरा पु साम् ।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥१०३॥

अन्वय.—एते ये अर्था नाम एते पुंसा वहिश्चरा. प्राणा सन्ति। (अत.) य जन यस्य अर्थान् हरति स तस्य प्राणान् हरति।

सूत्रार्थ—ये जो धनादिक पदार्थ हैं, ये सब पुरुषों के बाह्य प्राण हैं। इसलिये जो पुरुष जिस जीव के पदार्थों को चुराता है, वह जीव उस जीव के प्राणों को हरता है।

भावार्थ—ससार मे धन ग्यारहवां प्राण है। धनके लिये लोग अपने प्राणों को भी संकट में डालते नहीं डरते। रण संग्राम, समुद्र, नदी, पर्वत, गहनवन आदि मे जहां प्राणों के नाश की सभावना रहती है, वहां भी धन के लिये प्रवेश करते हैं। यदि चोर ठगादि डाकू लूटने को आवें तो प्राण देना कवूल करते हैं पर धन देना कवूल नहीं करते।

इस प्रकार धन को प्राणों से भी अधिक प्यारा समझते हैं। इसलिये जो पराया धन हरण करता है सो मानो पराये प्राण ही हरण करता है। इसलिये चोरी मे हिंसा ही है।

हिंसाया स्तेयस्य च नाव्याप्ति सुघटा एव सा यस्मात् ।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यै ॥१०४॥

अन्वय —हिंसाया च स्तेयस्य अव्याप्ति' न। सा सुघटा एव। यस्मात् अन्यै स्वीकृतस्य द्रव्यस्य ग्रहणे प्रमत्तयोग (अस्ति)।

सूत्रार्थ—हिंसा के और चोरी के अव्याप्ति दोष नहीं है। (चोरी में) वह हिंसा सुघट ही है क्योंकि दूसरो के द्वारा स्वीकृत किये गये द्रव्य के ग्रहण करने मे प्रमत्तयोग है।

भावार्थ—दूसरे का द्रव्य विना प्रमत्तयोग के ग्रहण नहीं हो सकता और प्रमत्तयोगहिंसा का सुनिश्चित् लक्षण है। अत जहा २ चोरी है वहा २ प्रमत्तयोग है—और जहा २ प्रमत्तयोग है—वहा २ हिंसा है। अत चोरी को हिंसा मानने मे अव्याप्ति दोष नहीं है।

नातिव्याप्तिश्च तयो प्रमत्तयोगैककारणविरोधात् ।
अपि कर्मानुग्रहणे नीरागाणाम विद्यमानत्वात् ॥१०५॥

अन्वय —च नीरागाणा प्रमत्तयोगैककारणविरोधात् कर्मानुग्रहणे अपि स्तेयस्य अविद्यमानत्वात् तयो अतिव्याप्ति न।

सूत्रार्थ—और वीतराग पुरुषो के प्रमादयोगरूप एक कारण के न होने से कर्म ग्रहण मे भी चोरी के उपस्थित न होने से उन दोनों मे अर्थात् हिंसा और चोरी मे अतिव्याप्ति दोष भी नहीं है।

भावार्थ—कोई यह कहे कि देखो—ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान के जीव भी विना दी हुई द्रव्य कर्म और नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण करते ही हैं—अत' वे भी चोर हैं—उनके भी हिंसा है—उसका परिहार करते हैं कि केवल परवस्तु के ग्रहण का नाम चोरी नहीं है-

किन्तु प्रमत्तयोग सहित परवस्तु के ग्रहण का नाम चोरी है। और उनके प्रमत्तयोग है नहीं-अत न वे चोर हैं तथा न उनसे हिंसा हो है। इसलिये चोरी को हिंसा मानने मे अतिव्याप्ति दोष भी नहीं है।

अचौर्य अणुव्रत का लक्षण (स्वरूप)

असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥१०६॥

अन्वय —ये निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिं कर्तुं असमर्था, तैः अपि अपरं समस्तं अदत्तं परित्याज्यं।

सूत्रार्थ—जो लोग दूसरे के कुओं का जलादि ग्रहण करने का त्याग करने के लिये असमर्थ हैं, उनके द्वारा भी अन्य सपूर्ण बिना दी हुई वस्तु त्याग करने योग्य है।

भावार्थ—परवस्तु के ग्रहण का नवकोटि पूर्वक सर्वथा त्याग करना अचौर्य महाव्रत है पर गृहस्थ को उन वस्तुओं का तो बिना दिये प्रयोग करना ही पडता है जो सरकार की ओर से आम जनता के प्रयोग के लिये रक्खी गई हों अथवा जिन वस्तुओं के ग्रहण मे राज समाज का कोई दण्ड बिलकुल नहीं हो जैसे कुये का जल। अत गृहस्थ अपने भोगोपभोग के साधन अर्थ ऐसी वस्तु को छोडकर शेष का बिना दिये ग्रहण करने का त्याग करता ही है—यही उसका तीसरा अचौर्याणुव्रत है।

अचौर्याणुव्रत पर प्रश्नोत्तर प्रमाण सूत्र सं०

प्रश्न ४६—चोरी किसे कहते हैं ?

उत्तर—प्रमत्तयोग से बिना दिये हुये परिग्रह का ग्रहण करना चोरी है। (१०२)

प्रश्न ४७—अचौर्य महाव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर—विना दिये हुये परिग्रह के ग्रहण का नव कोटि पूर्वक त्याग करना महाव्रत है। (१०६)

प्रश्न ४८—अचौर्याणुव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिन वस्तुओ के प्रयोग मे राज समाज सम्बन्धी कोई भी दण्ड बिलकुल नहीं है—उनको छोडकर शेष सब विना दिये हुवे परिग्रह के ग्रहण का त्याग करना ज्ञानी श्रावकों का तीसरा अचौर्याणुव्रत है। (१०६)

अचौर्याणुव्रत का निरूपण समाप्त हुआ

ब्रह्मचर्याणुव्रत का निरूपण

(सूत्र १०७ से ११० तक ४)

अब्रह्म का लक्षण (स्वरूप)

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म ।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात् ॥१०७॥

अन्वय —यत् वेदरागयोगात् मैथुन अभिधीयते तत् अब्रह्म । तत्र वधस्य सर्वत्र सद्भावात् हिंसा अवतरति । (मैथुन अब्रह्म)

सूत्रार्थ—जो वेदरागयोग से मैथुन किया जाता है वह अब्रह्म है और उस मैथुन मे प्राणी वध का सब जगह सद्भाव होने से हिंसा होती है। अब्रह्म को हिंसा कहने का कारण यह है कि पाप वास्तव मे हिंसा है और अब्रह्म मे क्योंकि द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की महान् हिंसा होती है—अत वह हिंसा का एक उदाहरण मात्र है जैसा कि पूर्व सूत्र ४२ मे प्रतिज्ञा करके आये हैं। अब मैथुन मे किस प्रकार द्रव्य हिंसा और भावहिंसा दोनों होती हैं—इसको अगले सूत्र द्वारा स्पष्ट करते हैं—

हिंस्यन्ते तिलनाल्या तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत् ।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥१०८॥

अन्वय.—यद्वत् तिलनाल्या तप्तायसि विनिहिते तिला हिंस्यन्ते तद्वत् मैथुने योनौ वहव जीवा हिंस्यन्ते ।

सूत्रार्थ—जिस प्रकार तिलों की नाली मे तप्त लोहे के डालने से तिल भुन जाते हैं उसी प्रकार मैथुन मे योनि मे बहुत से जीव मरते हैं ।

भावार्थ—मैथुन में वेद कषाय रहने से भाव हिंसा तो है ही किन्तु योनि मे जीव मरने से द्रव्यहिंसा भी महान् है। यही ऊपर एक रोमांच किन्तु सत्य दृष्टांत से दिखलाया है। अब भोग के अतिरिक्त जो प्यारादि की अन्य चेष्टायें की जाती हैं—उनमे भी यदि द्रव्यहिंसा न भी हो तो भी वेद कषाय रहने से भावहिंसा तो अवश्य होती ही है—यह अब कहते हैं।

यदपि क्रियते किंचिन्मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि ।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥१०९॥

अन्वय.—अपि मदनोद्रेकात् यत् किंचित् अनङ्गरमणादि क्रियते तत्र अपि रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् हिंसा भवति ।

सूत्रार्थ—और काम के उद्रेक से जो कुछ अनङ्गरमण आदि किया जाता है उसमें भी रागादि की उत्पत्ति के वश से हिंसा होती है।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत का लक्षण (स्वरूप)

ये निजकलत्रमात्र परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात् ।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ॥११०॥

अन्वयः—ये मोहात् निजकलत्रमात्र परिहर्तुं हि न शक्नुवन्ति, तैः अपि निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं न कार्यं ।

सूत्रार्थ—जो जीव मोह के कारण केवल अपनी स्त्री को छोडने के लिये समर्थ नहीं हैं उनके द्वारा भी शेष सब स्त्रियों का सेवन करना योग्य नहीं है। इसको परस्त्रीत्यागव्रत या स्वस्त्री संतोषव्रत या ब्रह्मचर्याणुव्रत इन तीन नामों से कहते हैं।

भावार्थ—ये ध्यान रहे कि इस व्रत मे स्वस्त्री के अतिरिक्त संपूर्ण स्त्रियों का त्याग है। अतः वेश्या या दासी या कुमारी या

व्यभिचारिणी किसी भी स्त्री का सेवन अनाचार है। अतीचार नहीं। अतीचार तो केवल व्यभिचारिणी स्त्री से किसी प्रकार का लौकिक व्यवहार रखना या किसी कार्यवश उसके हा आना जाना है। सेना तो अनाचार ही है। जो उसको अतीचार बताते हैं वे स्वय लम्पटी हैं।

वेद कषाय का भाव महान् घिनावना, पापबधक, जीव के ज्ञान को महान् विकारी और अविवेकी बना देने वाला है। अत ज्ञानियो को प्रथम तो स्त्रीमात्र का त्याग करके ब्रह्मचर्य से ही रहना शोभा देता है– पर जिनका मोह अभी इतना नहीं टूटा है और वे अपनी स्त्री का त्याग नहीं कर सकते–उन्हें भी परस्त्री का त्याग तो अवश्य करना ही चाहिये– परस्त्री के सेने का भाव तो महान् नीच भाव है। उसमें तो आत्मा बहुत ही अधिक पतित हो जाता है–अत वह भाव तो ज्ञानी को कभी आना ही नहीं चाहिये। लौकिक दृष्टि से भी जो कुछ परस्त्री मे है–वह सब कुछ तो स्वस्त्री में है–फिर भी भगवान् जाने–लोग क्यों अपनी स्त्री को छोडकर दूसरी का भाव करते हैं। महान् अविवेक का कार्य है। अपनी स्त्री को दिन रात भी भोगो तो कौन मना करता है पर भाई पराई स्त्री मे महान् दोष है। देखो रावण ने पराई स्त्री को सेना तो दरकिनार–छुआ तक भी नहीं–फिर भी नरक जाना पडा। परस्त्री मे एक चीज अधिक है जो स्वस्त्री में नहीं कि वह नरक तिर्यंच गति में भेज देती है। इसलिये कम से कम हमारे शास्त्रपाठी भाईयों को तो परस्त्री का त्याग कर ही देना चाहिये।" बस यही श्रावको का चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत पर प्रश्नोत्तर प्रमाण सूत्र स०

प्रश्न ४९—अब्रह्म किसे कहते हैं ?

उत्तर—प्रमत्तयोग से अर्थात् वेद कषायवश मैथुन करने को 'अब्रह्म' कहते हैं। (१०७)

प्रश्न ५०—ब्रह्मचर्य महाव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—स्त्रीमात्र के सेवन का नव कोटि पूर्वक सर्वथा त्याग करना
ब्रह्मचर्य महाव्रत है। (११०)

प्रश्न ५१—ब्रह्मचर्याणुव्रत का क्या स्वरूप है?

उत्तर—अपनी स्त्री को छोडकर शेष सब पराई स्त्रियों का व्यभिचारिणी, वैश्या, कुमारी, दासी—आदिक सभी का सर्वथा त्याग करना ज्ञानी श्रावकों का ब्रह्मचर्याणुव्रत है। (११०)

ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वरूप समाप्त हुआ।

परिग्रहत्यागाणुव्रत का निरूपण

(सूत्र १११ से १२८ तक १८)

परिग्रह का लक्षण 'मूर्च्छा' और मूर्च्छा का लक्षण 'ममत्वपरिणाम'

या मूर्छानामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्छा तु ममत्वपरिणामः ॥१११॥

अन्वय—इयं या मूर्च्छानाम, एष ही परिग्रह विज्ञातव्यः। तु मोहोदयात् उदीर्णः ममत्वपरिणामः मूर्छा। (मूर्च्छा परिग्रह.)।

सूत्रार्थ—यह जो मूर्छा है वह ही वास्तव में परिग्रह जानना चाहिये और मोह के उदय से उत्पन्न हुआ ममत्वपरिणाम मूर्छा है। इसमें प्रथम पंक्ति में परिग्रह का लक्षण 'मूर्छा' कहा है। दूसरी पंक्ति में मूर्छा का लक्षण 'ममत्वपरिणाम कहा है।

मूर्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।
सग्रंथो मूर्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः ॥११२॥

अन्वय.—परिग्रहत्वस्य मूर्छालक्षणकरणात् व्याप्तिः सुघटा। शेषसंगेभ्य. विना अपि मूर्छावान् किल सग्रन्थः।

सूत्रार्थ—परिग्रहपने का मूर्छा लक्षण करने से व्याप्ति भले प्रकार घटित होती है क्योंकि अन्य सब परिग्रह के बिना भी मूर्छा करने वाला वास्तव में परिग्रहयुक्त है।

भावार्थ—परिग्रह का लक्षण 'परवस्तु का सयोग' नहीं किया है क्योंकि परवस्तु का सयोग तो ११-१२-१३-१४ गुणस्थानों मे भी है-पर वे मूर्छा का अभाव होने से परिग्रहवान् नहीं हैं तथा किसी भिकारी के पास कोई वस्तु न हो पर मूर्च्छा रहने से वह परिग्रहवान् है। सैद्धान्तिक दृष्टि से दसवें गुणस्थान तक विग्रहगति मे रचमात्र परिग्रह नहीं है पर मूर्च्छा का सद्भाव होने से वहा भी परिग्रहवान् है। अत परिग्रह का लक्षण परवस्तु करने मे दोष है पर मूर्छा लक्षण करने मे किसी प्रकार दोष नहीं है-सर्वथा निर्दोष है।

यद्येव भवति तदा परिग्रहो न खलु कोपि वहिरग ।
भवति नितरा यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्वम् ॥११३॥

अन्वय—यदि एव भवति तदा खलु वहिरग परिग्रह कः अपि न भवति ? एव न यत असौ मूर्च्छानिमित्तत्व नितरा धत्ते।

सूत्रार्थ—यहा कोई शका करता है कि यदि ऐसा है अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह है-बाह्य वस्तु नहीं-तो फिर वास्तव मे वाह्य परिग्रह कुछ भी नहीं ठहरता है ? उसका समाधान करते हुए कहते हैं कि ऐसा नहीं है क्योंकि वह वाह्य परिग्रह मूर्च्छा के निमित्तपने को निरन्तर धारण करता ही है।

भावार्थ—पूर्व सूत्र ११२ को सुनकर शिष्य कहता है कि आप परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा करते हैं-वाह्य वस्तु नहीं तो क्या फिर वाह्य वस्तु को परिग्रह न कहा जाय ? उसके उत्तर मे उसे समझाते हैं कि भाई परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा तो किया ही है पर मूर्च्छा कहीं किसी को वध्या के पुत्र मे नहीं होती। मूर्च्छा का कुछ न कुछ आधार (निमित्त) तो रहता ही है। अत जो मूर्च्छा का निमित्त है वही वहिरंग परिग्रह है। वस यही वहिरग परिग्रह का चरितार्थपना है।

एवमतिव्याप्ति॰ स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम् ।
यस्मादकषायाणा कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति ॥११४॥

अन्वय —एव परिग्रहस्य अतिव्याप्ति स्यात् इति चेत् एव न भवेत् यस्म त् अकपायाणा कर्मग्रहणे मूर्च्छा नास्ति ।

सूत्रार्थ—इस प्रकार परिग्रह के अतिव्याप्ति होती है ऐसा कदाचित् कहो तो ऐसा नहीं है क्योंकि अकषायी (वीतराग) पुरुषों के कर्म ग्रहण मे मूर्च्छा नहीं है ।

भावार्थ—अब यदि कोई यह शका करे कि पूर्वसूत्र ११३ के अनुसार परवस्तु के भी परिग्रहपने को प्राप्त होने से वीतरागी पुरुष (११-१२-१३-१४ गुण) भी परिग्रहपने को प्राप्त हो जावेंगे क्योकि उनके द्रव्यकर्म-नोकर्म का ग्रहण है तो समाधान मे कहते हैं कि वे परिग्रह के दोष को प्राप्त नहीं होंगे क्योंकि वहां 'मूर्च्छा' नहीं है। वही परवस्तु परिग्रहपने को प्राप्त होती है जो मूर्च्छा का निमित्त हो ।

परिग्रह के भेद प्रभेद

अतिसक्षेपाद्द्विविध स भवेदाभ्यन्तरश्च वाह्यश्च ।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु ।।११५।।

अन्वय —स॰ अतिसक्षेपात् अभ्यन्तर॰ च वाह्य॰ द्विविध भवेत् । च प्रथम॰ चतुर्दशविव तु द्वितीय द्विविध भवति ।

सूत्रार्थ—वह परिग्रह अति सक्षेप से अन्तरग और वहिरग दो प्रकार है। पहला अन्तरग परिग्रह चौदह प्रकार है और दूसरा वहिरग परिग्रह दो प्रकार है। आगे स्वयं इसी को स्पष्ट करते हैं—

अन्तरग परिग्रह १४

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषा ।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रथा- ।।११६।।

अन्वय —मिथ्यात्ववेदरागा तथा एव च हास्यादय षड्दोपा च चत्वार. कपाया चतुर्दश आभ्यन्तरा ग्रन्था (सन्ति) ।

सूत्रार्थ—मिथ्यात्व[1], स्त्रीवेद रूप राग[2], पुरुष वेद रूप राग[3], नपुंसकवेद रूप राग[4] और ६ हास्यादिक दोष–हास्य[5], रति[6], अरति[7] शोक[8], भय[9], जुगुप्सा[10]—और चार कषाय–क्रोध[11], मान[12], माया[13], लोभ[14] ये चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं।

वहिरंग परिग्रह २

अथ निश्चित्तसचित्तौ वाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ।
नैष कदापि सङ्ग सर्वोऽप्यतिवर्त्तते हिंसा ॥११७॥

अन्वय —अथ वाह्यस्य परिग्रहस्य निश्चित्तसचित्तौ द्वौ भेदौ। एष. सर्वं अपि सङ्ग' कदापि हिंसा न अतिवर्त्तते।

सूत्रार्थ—और वाह्य परिग्रह के अचित्त (धनादिक) और सचित्त (पुत्रादिक) ये दो भेद हैं। यह अन्तरंग और वहिरंग सब ही परिग्रह कभी भी हिंसा को उलङ्घन नहीं करता है अर्थात् सब प्रकार के परिग्रह के रखने मे हिंसा का दोष है ही। इसकी सिद्धि अगले सूत्र के भावार्थ मे की है। परिग्रह को हिंसा सिद्ध करने का कारण यह है कि पाप वास्तव मे हिंसा है–परिग्रह तो उसका एक उदाहरणमात्र है जैसा कि पूर्व सूत्र न० ४२ में कहकर आये हैं।

परिग्रह मे हिंसा और अपरिग्रह मे अहिंसा की सिद्धि

उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्या सूचयन्त्यहिंसेति।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञा. ॥११८॥

अन्वय —जिनप्रवचनज्ञा आचार्या उभयपरिग्रहवर्जनं अहिंसा इति (तथा) द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसा इति सूचयन्ति।

सूत्रार्थ—जिन प्रवचन के जानने वाले आचार्य दोनों प्रकार के परिग्रह के त्याग को 'अहिंसा' ऐसा और दोनों प्रकार के परिग्रह के ग्रहण को 'हिंसा' ऐसा सूचन करते हैं।

(१) अन्तरंग १४ प्रकार के विभाव भाव तो हैं ही कषाय रूप या प्रमत्तयोग रूप-अत वे तो प्रत्यक्ष हिंसारूप हैं और उपयोग मे कषाय का न होना अर्थात् प्रमत्तयोग का अभाव 'अहिंसा' का लक्षण है। अत अन्तरग परिग्रह का धारण करना 'हिंसा' है और अन्तरग परिग्रह का छोडना 'अहिंसा' है।

(२) बहिरंग परिग्रह मे 'मूर्च्छा' का सद्भाव रहता है और मूर्च्छा ममत्वपरिणाम नामा प्रमत्तयोग होने से हिंसा है। इस प्रकार वहिरग परिग्रह का धारण करना भी 'हिंसा' है और वहिरंग परिग्रह का मूर्च्छापूर्वक त्याग करना 'अहिंसा' है। इस प्रकार दोनों प्रकार के परिग्रह का धारण करना 'हिंसा' है और दोनो प्रकार के परिग्रह का छोडना 'अहिंसा' है।

परिग्रह मे हिंसा की सिद्धि

हिंसापर्यायत्वात्सिद्धा हिंसान्तरङ्गसगेषु ।
वहिरगेषु तु नियत प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम् ॥११९॥

अन्वय:—हिंसापर्यायत्वात् अन्तरगसगेषु हिंसा सिद्धा तु वहिरगेषु मूर्च्छा एव हिंसात्वं नियत प्रयातु।

सूत्रार्थ—हिंसा रूप पर्याय होने से अन्तरङ्ग परिग्रहों में तो हिंसा स्वय सिद्ध ही है और वहिरग परिग्रहों मे ममत्व परिणाम ही हिंसा भाव को निश्चित् रूप से प्राप्त होता ही है। [भावार्थ पूर्वसूत्र मे स्पष्ट हो चुका है]

एव न विशेष. स्यादुन्दररिपुहरिणशावकादीनाम् ।
नैव भवति विशेषस्तेषां मूर्च्छा विशेषेण ॥१२०॥

अन्वय:—यदि एवं उन्दररिपुहरिणशावकादीना विशेष न स्यात्। एव न भवति मूर्च्छाविशेषेण तेषा विशेष (अस्ति)।

सूत्रार्थ—यहा कोई शका करता है कि यदि ऐसा है (अर्थात् वहिरग वस्तुओं मे ममत्व परिणाम ही मूर्च्छा है—वहिरग वस्तुयें नहीं)

तो बिल्ली और हरिण के बच्चे आदिकों मे कुछ अन्तर न रहेगा सो समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं है क्योंकि ममत्वपरिणामों की विशेषता से उन (बिल्ली तथा हरिण के बच्चे आदि जीवों) के विशेषता है-अन्तर है-समानता नहीं है।

शका—हिरण का बच्चा ऊपर की हरी २ घास खाकर पेट भर लेता है और बिल्ली चूहों को मारकर पेट भरती है तो शकाकार कहता है कि जब बहिरग परिग्रह तो कोई चीज ही नहीं और इनका अन्तरग पेट भरने का मूर्च्छा रूप परिणाम तो एक जैसा ही है फिर तो इनको एक जैसा ही पाप लगेगा—विशेषता न रहेगी ? शकाकार के पेट की बात यह है कि इस तरह तो चाहे कोई मास से पेट भरो या गेहू से—कुछ विशेषता न रहेगी—ऐसा सिद्धात सिद्ध होगा ?

समाधान—सो उसके उत्तर मे उसे समझाते हैं कि यह बात नहीं है—बाहर का सयोग अन्तरग की मूर्च्छा (ममत्वपरिणाम) की डिगरी का पक्का सूचक है। हिरण के बच्चे का ममत्वपरिणाम उस घास मे बिलकुल कम है—इसका सबूत यह है कि वह जरा सी आहट होने पर घास छोडकर भाग पडता है और बिल्ली की चूहे के बच्चे के भोजन मे विशेष अनुराग (मूर्च्छा—ममत्वपरिणाम) है। इसका सबूत यह है कि वह लठ पडने पर भी एक बार पकडे हुये बच्चे को फिर मुंह से नहीं छोड़ती। अत' भाई बहिरग परिग्रह मे विशेषता तो है पर हिंसा की या पाप की व्याप्ति अन्तरग परिणामों से है और बहिरग सयोग अन्तरग के राग की विशेषता का सूचक है। इसी प्रकार भाई ! गेहू का भोजन करने वाले की दृष्टि केवल पेट भरने मात्र पर है—वह हलके अन्तरग राग की सूचक है और मास खाने वाले की दृष्टि केवल पेट भरने पर नहीं किन्तु विशेष स्वाद रूप राग पर है। अत दोनों के परिणाम मे महान् अन्तर होने से हिंसा का अन्तर है और बहिरग परिग्रह उसका निमित्त होने से उसमे भी अन्तर है। हरी घास हिरण के बच्चे —

मन्द मूर्च्छा का कारण है और मन्द मूर्च्छा कार्य है। उसी प्रकार चूहे का वच्चा तीव्र मूर्च्छा का कारण है और विल्ली की तीव्र मूर्च्छा कार्य है। यह कारण कार्य का भेद वस्तुओ मे पाया जाता है। अत वहिरङ्ग परिग्रह मन्द तीव्र मूर्च्छा का कारण है यही वहिरंग परिग्रह का चरितार्थपना है।

हरिततृणाकुरचारिणि मन्दा मृगशावके भवति मूर्च्छा ।
उन्दरनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा ॥१२१॥

अन्वय –हरितांकुरचारिणि मृगशावके मूर्च्छा मन्दा भवति सा एव उन्दरनिकरोन्माथिनि मार्जारे तीव्रा जायते ।

सूत्रार्थ– हरे घास के अकुर चरने वाले हरिण के वच्चे मे मूर्च्छा मन्द होती है और वह ही मूर्च्छा चूहों के समूह को मारने वाली विल्ली मे तीव्र होती है। अव इसी सिद्धात की पुष्टि एक और दृष्टांत से करते हैं। जैसे पहले हमने मास और गेहू के भोजन के दृष्टात से समझाया था–उसी प्रकार आचार्य महाराज दूध और मिठाई के दृष्टांत से समझाते हैं।

निर्बाध ससिद्धयेत्कार्यविशेषो हि कारणविशेपात् ।
औवस्यखण्डयोरिह माधुर्यप्रीतिभेद इव ॥१२२॥

अन्वय —औवस्यखण्डयो माधुर्यप्रीतिभेद इव इह हि कारणविशेपात् कार्यविशेप निर्बाध समिद्धयेत् ।

सूत्रार्थ—दूध और खाड (मठाई। मे मिठास की मन्दता, तीव्रता के भेद समान इस लोक मे वास्तव मे कारण की विशेपता से कार्य मे विशेपता निर्वाध सिद्ध होती है।

भावार्थ—दूध मे मिठाई की निस्वत मिठास कम होती है। अत मिठास रूपी कारण से उसके मूर्च्छारूप कार्य मे विशेपता देखी जाती है। दूध में जितनी मूर्च्छा (लालसा) रहती है, मिठाई में उस

से अधिक लालसा रहती है। इस प्रकार बहिरग परिग्रह कारण और अन्तरग मूर्च्छा कार्य है। इससे यह सिद्धात भली भाति सिद्ध होता है कि कारण की विशेषता से कार्य में विशेषता होती ही है। बस यह नियम अन्तरग और बहिरग परिग्रह मे काम कर रहा है। इसलिये सब बहिरग वस्तुयें भी मूर्च्छा का कारण होने से परिग्रहपने को प्राप्त ही हैं–

माधुर्यप्रीति किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्ये ।
सैवोत्कटमाधुर्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा ॥१२३॥

अन्वय —किल मन्दमाधुर्ये दुग्धे माधुर्यप्रीति· मन्दा एव व्यपदिश्यते। सा एव उत्कटमाधुर्ये खण्डे तीव्रा (भवति)।

सूत्रार्थ—वास्तव मे थोडी मिठास वाले दूध मे मिठास की रुचि हलकी ही कही जाती है और वह ही मिठास की रुचि बहुत मिठास वाली मिठाई मे तीव्र कही जाती है।

नोट—यहा तक अन्तरग और बहिरग परिग्रह का स्वरूप कहा। अब अन्तरग और बहिरग परिग्रह के ग्रहण त्याग मे निमित्तकारण जो द्रव्यकर्म उसका परिज्ञान भी दो सूत्रों में कराते हैं। क्योंकि यह ग्रन्थ चौथे और पाचवें गुणस्थानवर्ती श्रावकों के लिये ही बनाया गया है अत. उन दो गुणस्थानों मे कारणभूत निमित्तों का ही निर्देश करते हैं। सूत्र १२४ मे चौथे गुणस्थान मे निमित्तभूत कर्म का निर्देश है और सूत्र १२५ मे पाचवें गुणस्थान मे निमित्तभूत कर्म का निर्देश किया है।

चौथे गुणस्थान मे निमित्तभूत कर्म का निरूपण

तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्त प्रथममेव मिथ्यात्वम् ।
सम्यग्दर्शनचौरा प्रथमकषायाश्च चत्वार ॥१२४॥

अन्वय —प्रथम एव तत्त्वार्थाश्रद्धाने मिथ्यात्व नियुक्त च सम्यग्दर्शनचौरा चत्वार प्रथमकषाया।

सूत्रार्थ—पहले तत्त्वार्थ के अश्रद्धान मे मिथ्यात्व को नियुक्त किया

गया है और सम्यग्दर्शन को घुराने वाले पहले चार कषाय (अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ) हैं।

भावार्थ—मिथ्यात्व[1], अनन्तानुबन्धी क्रोध[2]–मान[3]–माया[4]–लोभ[5] =५। अनादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा इन पाच प्रकृतियों का उदय तत्त्वार्थ के अश्रद्धानरूप मिथ्यात्व मे और इनका अनुदय तत्त्वार्थ के श्रद्धान रूप सम्यक्त्व मे निमित्तमात्र कारण है। चौथे गुणस्थान की अवस्था के साथ जिन कर्मों का स्वाभाविक निमित्त नैमित्तिक संबन्ध है—ये उनका परिज्ञान कराया गया है।

पाचवें गुणस्थान मे निमित्तभूत कर्म का निरूपण

प्रविहाय च द्वितीयान् देशचरित्रस्य सन्मुखायात.।
नियत ते हि कपाया देशचरित्र निरुन्धन्ति ॥१२५॥

अन्वय —च द्वितीयान् प्रविहाय देशचरित्रस्य सन्मुखायात । हि ते कपाया नियत देशचरित्र निरुन्धन्ति।

सूत्रार्थ—और दूसरी चार कषायों को [अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध मान माया लोभ को] छोडकर देशचारित्र के सन्मुख आता है क्योंकि वे कषाय देशचारित्र को रोकती हैं।

भावार्थ—अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध–मान–माया–लोभ इन चार के अनुदय (क्षयोपशम) का देशव्रत के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। पाचवें गुणस्थानवर्ती ज्ञानी श्रावक का जिन द्रव्य कर्मों के साथ मात्र निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है—ये उनका परिज्ञान कराया गया है। अगले छठे आदि गुणस्थानों के निमित्त का निरूपण श्रावकाचार का ग्रंथ होने के कारण से नहीं किया क्योंकि विषय प्रकरण से बाहर हो जाता। यहां तक परिग्रह और उसके निमित्तों का कथन किया। अब श्रावक को परिग्रह के त्याग की शिक्षा देते हैं। पहले एक सूत्र मे अन्तरग परिग्रह के त्याग की शिक्षा देते हैं फिर दो सूत्रों मे बहिरग परिग्रह के त्याग की शिक्षा देते हैं अर्थात् अब ३ सूत्रों में परिग्रहत्यागाणुव्रत का स्वरूप कहते हैं—

परिग्रहत्यागाणुव्रत का स्वरूप

(सूत्र १२६-१२७-१२८=३)

हेतुपूर्वक अन्तरग परिग्रह के त्याग की शिक्षा

निजशक्त्या शेषाणा सर्वेषामन्तरगसगानाम् ।
कर्त्तव्य परिहारो मार्दवशौचादिभावनया ॥१२६॥

अन्वय —निजशक्त्या मार्दवशौचादिभावनया शेपाणा सर्वेपा अन्तरङ्गसङ्गाना परिहार कर्त्तव्य ।

सूत्रार्थ—अपनी शक्ति से मार्दव, शौच, सयमादि भावनाओं के द्वारा शेष सम्पूर्ण अन्तरग परिग्रह का त्याग करना चाहिये ।

भावार्थ—ज्ञानी श्रावकों को शिक्षा देते हैं कि तुम्हें अन्तरग चौदह प्रकार के परिग्रह को जीतने के लिये उनसे विरोधी भावों का आश्रय लेना चाहिये । किसी चीज की नास्ति करनी हो-तो उससे विरोधी की अस्ति होनी चाहिये । अधेंरे को दूर करने के लिये प्रकाश की आवश्यकता है । इसी प्रकार यदि आत्मा मे से मिथ्यात्व को हटाना हो-तो सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ करना चाहिये-सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति से मिथ्यात्व का नाश हो जायेगा । इसी प्रकार क्रोध को नाश करने के लिये आत्मा के क्षमाभाव का आश्रय लेना चाहिये-क्रोध नाश हो जायेगा । मान को नाश करने के लिये मार्दव धर्म का सहारा लेना चाहिये । माया को नाश करने के लिये आर्जव का, लोभ को नाश करने के लिये शौच का, हास्यादि छ विभावों के लिये सयम भाव का । इस प्रकार सम्पूर्ण अन्तरग परिग्रह के नाश करने की विधि है । सो गुरुदेव पहिले अन्तरग परिग्रह के नाश की शिक्षा देते हैं कि श्रावकों को चाहिये कि अपने सम्पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा आत्मा के क्षमादि गुणों का सहारा लेकर सम्पूर्ण अन्तरग परिग्रहों का नाश करें क्योंकि ये आत्मा के महान् शत्रु हैं । अब बहिरग परिग्रह के त्याग की शिक्षा देते हैं । पहले

वहिरग परिग्रह मे क्या दोप है। वह क्यों त्यागना चाहिये-यह एक सूत्र द्वारा वताते हैं और फिर अगले सूत्र मे उसके त्याग का उपदेश देते हैं—

हेतुपूर्वक वहिरङ्ग परिग्रह के त्याग की शिक्षा

वहिरगादपि सगाद्यस्मात्प्रभवत्यसयमोऽनुचित ।
परिवर्जयेदशेप तमचित्त वा सचित्त वा ॥१२७॥

अन्वय —यन्मात् वहिरात् सगात् अपि अनुचित असयम भवति (तस्मात्) अचित्त वा सचित्त वा अशेप परिवर्जयेत् ।

सूत्रार्थ—क्योंकि वहिरग परिग्रह से भी अनुचित असयम होता है (इसलिये) अचित्त या सचित्त सव ही परिग्रह छोडें।

भावार्थ—इसी आचार्य देव ने अपनी प्रवचनसार टीका सूत्र २२१ में वताया है कि वहिरग परिग्रह के सद्भाव मे ये दोप हैं। (१) ममत्व परिणाम जिसका लक्षण है ऐसी 'मूर्च्छा' (२) परिग्रह सवधी कर्मप्रकर्म का परिणाम (काम मे जुडने का परिणाम-काम की व्यवस्था करने का परिणाम) जिसका लक्षण है ऐसा 'आरम्भ' (३) शुद्धात्मस्वरूप की हिंसारूप परिणाम जिसका लक्षण है ऐसा असयम-ये तीन दोप अवश्यम्भावी होते हैं तथा परिग्रह जिसके द्वितीय होये-उसके (अर्थात् आत्मा से अन्य ऐसा परिग्रह जिसने ग्रहण किया होय-उसके) परद्रव्य मे रतपने के कारण शुद्धात्मद्रव्य के साधकपने का (चारित्रस्थिरता का) अभाव होता है। इसलिये परिग्रह के एकान्तिक अन्तरंग छेदपना अवश्य होता ही है। इसलिये आचार्यदेव शिक्षा देते हैं कि धन पुस्तक आदि अचेतन तथा स्त्री पुत्रादि सचेतन सव वहिरग परिग्रह को भी सर्वथा छोड़े ॥१२७॥ पर जो वहिरग परिग्रह को सर्वथा नहीं छोड सकते,उनको भी कम तो करना ही चाहिये-यह अव अगले सूत्र मे कहते हैं—

हेतुपूर्वक वहिरग परिग्रह के कम करने की शिक्षा

येऽपि न शक्यस्त्यक्तु धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि ।
सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूप यतस्तत्त्वम् ॥१२८॥

अन्वय —अपि य. धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि त्यक्तु शक्य न स अपि तनूकरणीय: यत तत्त्व निवृत्तिरूप (अस्ति)।

सूत्रार्थ—और जो धन धान्य मनुष्य घर रुपयादि सर्वथा छोडने के लिये समर्थ नहीं हैं, उन्हें भी वह परिग्रह कम करने योग्य है क्योंकि तत्त्व (स्वभाव से) निवृत्तिरूप है।

भावार्थ—आचार्य श्रावक को बडे प्रेम से समझाते हैं कि हे भाई! हम जानते हैं कि श्रावकों को परिग्रह से बहुत ममता रहती है। उन्हें एक कौडी भी छोडना बडा कठिन रहता है पर तू तो ज्ञानी है। तत्त्व का स्वरूप जानता है। यहां तत्त्व से आशय आत्मा के पारिणामिक स्वभाव से है। भाई उस तत्त्व में तो किसी परवस्तु का सयोग ही नहीं और तू ने उसका श्रद्धान-ज्ञान किया है तथा उसकी प्राप्ति (मोक्ष) की भी तेरी इच्छा है। इसलिये भाई यह अज्ञानी जगत् तो तत्त्व के निवृत्ति रूप स्वभाव से अपरिचित है। इसलिये यह परिग्रह को नहीं छोड सकता-तो न सही-पर तू तो आत्मा के स्वत सिद्ध एकत्वविभक्त स्वभाव को जानता है। अत तू तो छोड-और यदि तू भी सर्वथा नहीं छोड सकता तो भाई कम तो कर अर्थात् परिग्रहत्यागमहाव्रत को धारण नहीं कर सकता तो परिग्रह के एकदेशत्यागरूप अणुव्रत को तो ग्रहण कर। गुरुदेव ने परिग्रह का त्याग कराने के लिये सबसे प्रबल युक्ति आत्मा के एकत्वविभक्त स्वभाव की दी है। इतनी सुन्दर और मार्मिक युक्ति है कि इस परिग्रह से ममता छुडाने के लिये इससे बडी युक्ति हो ही नहीं सकती।

परिग्रहत्यागाणुव्रत पर प्रश्नोत्तर प्रमाण सूत्र स०

प्रश्न ५२—परिग्रह किसे कहते हैं ?

उत्तर—मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं। (१११)

प्रश्न ५३—मूर्च्छा किसे कहते हैं ?

उत्तर—मोह के उदय से उत्पन्न हुवा 'ममत्वपरिणाम' मूर्च्छा है। (१११)

प्रश्न ५४—परिग्रह के मूल भेद कितने हैं?

उत्तर—दो (१) अन्तरंग परिग्रह (२) वाह्य परिग्रह। (११५)

प्रश्न ५५—अन्तरग परिग्रह के कितने भेद हैं?

उत्तर—चौदह—मिथ्यात्व[1], क्रोध[2], मान[3], माया[4], लोभ[5], हास्य[6], रति[7], अरति[8], शोक[9], भय[10], जुगुप्सा[11], स्त्रीवेद[12], पुरुषवेद[13], नपुंसकवेद[14]। (११६)

प्रश्न ५६—अन्तरग परिग्रह क्या वस्तु है?

उत्तर—दर्शनमोह और चारित्र मोह के उदय को अनुसरण करके होने वाला आत्मा का क्षणिक विभाव भाव है। क्योंकि ये क्षणिक भाव है—इसलिये ही इसको परिग्रह कहा है। क्योंकि ये नया ग्रहण किया जाता है और फिर नाश भी हो जाता है।

प्रश्न ५७—बहिरङ्ग परिग्रह के कितने भेद हैं?

उत्तर—दो—(१) अचेतन वस्तुयें जैसे रुपया, मकान, कपड़ा, वर्तन आदिक। (२) सचेतन वस्तुयें जैसे पुत्र, स्त्री, मां, वाप, गुरु, शिष्य, आदिक। (११७)

प्रश्न ५८—अन्य ग्रन्थों मे तो परिग्रह के १० भेद कहे हैं?

उत्तर—वे दस वस्तुयें इन्हीं दो भेदों के अन्दर समा जाती हैं क्योंकि उन दस मे कुछ सचेतन वस्तु हैं तथा कुछ अचेतन वस्तु हैं। वस्तुओं के नाम गिनाने की बजाय इन्होंने उनके जाति भेद कर दिये हैं। अत. वस्तु नाम से परिग्रह के १० भेद हैं और वस्तुओं की जाति की अपेक्षा दो भेद हैं। सार बात एक ही है। जाति की अपेक्षा निरूपण अधिक सुन्दर है क्योंकि उसमें कुछ छूटता ही नहीं है।

प्रश्न ५९—परिग्रहत्यागमहाव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—नव कोटि पूर्वक सम्पूर्ण अन्तरग और वहिरग परिग्रह का त्याग करना महाव्रत है।

प्रश्न ६०—परिग्रहत्यागाणुव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—अन्तरग परिग्रह के छोडने के लिये तो आत्मा के क्षमादि धर्मों द्वारा पूर्ण पुरुषार्थ करे और अन्तरग परिग्रह के निमित्तभूत इन धनादिक को आवश्यकतानुसार कम से कम रखने का जीवन पर्यन्त का प्रमाण करके शेष का त्याग करे क्योंकि उनके निमित्त से (लक्ष से) अनुचित असयम भाव होता है जो कर्म बध का कारण है तथा आत्मा का स्वभाव भी तो पर से निवृत्तिरूप है।

(१२६-१२७-१२८)

परिग्रहत्यागाणुव्रत का निरूपण समाप्त हुआ ।

रात्रिभोजनत्याग का निरूपण

(सूत्र १२९ से १३४ तक ६)

भूमिका—अब रात्रिभोजन त्याग का उपदेश करेंगे पर यहा यह शका हो सकती है कि जगत् मे पाप तो पाच ही हैं और उनका निरूपण तो हो चुका–अब यह क्या है ? इसका समाधान यह है कि पाप पाच नहीं वास्तव मे एक ही है और वह है हिंसा--पाच तो केवल उसके उदाहरणमात्र हैं। गुरु महाराज ने इस ग्रन्थ की नींव केवल हिंसा अहिंसा पर रक्खी है और सारे ग्रन्थ मे यह सिद्ध किया है कि हिंसा ही पाप है और अहिंसा ही धर्म है। रात्री भोजन क्योंकि हिंसा का एक विशेष आयतन है और इसकी प्रवृत्ति भी जगत् मे बहुत पाई जाती है अत इसका भिन्न रूप से पृथक् निर्देश करते हैं और हेतु सहित निरूपण करके रात्रिभोजन के त्याग की खास तौर पर प्रेरणा करते हैं:-

रात्रौ भुंजानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा ।
हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥१२९॥

अन्वय—यस्मात् रात्रौ भुंजानानां हिंसा अनिवारिता भवति तस्मात् हिंसाविरतैः रात्रिभुक्तिः अपि त्यक्तव्या ।

सूत्रार्थ—क्योंकि रात्रि में भोजन करने वालों के हिंसा अनिवारित (अवश्य) होती है इसलिये हिंसात्यागियों के द्वारा रात्रि में भोजन करना भी छोड़ना चाहिये ।

रात्रि भोजन में भावहिंसा की सिद्धि

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसा ।
रात्रिं दिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति ॥१३०॥

अन्वय—अनिवृत्तिः रागाद्युदयपरत्वात् हिंसां न अतिवर्तते । (अतः) रात्रिं दिवं आहरतः हि हिंसा कथं न संभवति ।

सूत्रार्थ—अत्यागभाव (रात्रि भोजन के खाने का त्याग न करने का भाव) रागादि भावों के उदय की उत्कृष्टता से हिंसा को उल्लङ्घन करके नहीं वर्तता है तो रात्रि को और दिन को खाने वाले के वास्तव में हिंसा कैसे संभव नहीं है ? अवश्य है ।

भावार्थ—जिनके दिन के खाने मात्र से तृप्ति नहीं होती और रात को भी खाते हैं उनके राग की उत्कृष्टता है यह प्रत्यक्ष ही है । और राग की उत्कृष्टता के कारण ही वे रात्रि भोजन का त्याग नहीं करते हैं । इसलिये रात्रि को खाने में भावहिंसा तो है ही । ऐसा यहां सिद्ध किया है । अब इसी की पुष्टि शंका समाधान पूर्वक दो सूत्रों में करके फिर रात्रि भोजन में द्रव्यहिंसा की सिद्धि करेंगे ।

शंका

यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः ।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ॥१३१॥

अन्वय —यदि एव तर्हि दिवा भोजनस्य परिहार कर्त्तव्य तु निशाया भोक्तव्य । इत्थ हिंसा नित्य न भवति ।

शका—यदि ऐसा है (अर्थात् रात दिन खाने मे हिंसा है) तो दिन में भोजन का त्याग करना चाहिये और रात्रि मे खाना चाहिये । इस प्रकार से हिंसा सदा न होगी ?

समाधान

नैव वासरभुक्ते भवति हि रागाधिको रजनिभुक्तौ ।
अन्नकवलस्य भुक्ते भुक्ताविव मासकवलस्य ॥१३२॥

अन्वय —एव न । वासरभुक्ते रजनिभुक्तौ हि रागाधिक भवति अन्नकवलस्य भुक्ते मासकवलस्य भुक्तौ इव ।

सूत्रार्थ—ऐसा नहीं है (अर्थात् दिन को छोडकर रात्रि को नहीं खाना चाहिये क्योकि दिन के भोजन से रात्रि भोजन मे वास्तव मे राग की अधिकता है जैसे अन्न के ग्रास के भोजन से मास के ग्रास के भोजन मे राग की अधिकता है ।

भावार्थ—जिनकी पेट भरने मात्र पर दृष्टि है–वे तो केवल अन्न ही खाते हैं–मांस नहीं खाते । मास तो वे खाते हैं जिनकी खाने मे अधिक लोलुपता है । इसी प्रकार जिनको शरीर के रक्षण मात्र के लिये खाना है–वे तो दिन मे खा लेते हैं । रात्रि मे तो वे खाते हैं जिनकी भोजन मे लोलुपता अधिक है । अत यह सिद्धांत ठीक नहीं है कि दिन को छोडकर रात्रि को खाया जावे किन्तु यही सिद्धात ठीक है कि रात्रि भोजन का ही त्याग करना चाहिये क्योंकि उसमें राग की अधिकता है । अब रात्रि भोजन मे द्रव्यहिंसा की सिद्धि करते हैं—

रात्रि भोजन मे द्रव्यहिंसा की सिद्धि

अर्कालोकेन विना भुञ्जान परिहरेत् कथ हिंसा ।
अपि वोधिते प्रदीपे भोज्यजुषा सूक्ष्मजीवानाम् ॥१३३॥

अन्वय —अर्कालोकेन विना भुञ्जान: हिंसा कथ परिहरेत् ? प्रदीपे बोधिते अपि भोज्यजुषा सूक्ष्मजीवाना (हिंसा कथ परिहरेत्) ।

सूत्रार्थ—रात्रि भोजन मे सूर्य के प्रकाश विना भोजन करने वाला द्रव्य हिंसा को कैसे बचायेगा ? नहीं बचा सकता । और यदि दीपक जलायेगा तो भोजन मे आ पडने वाले सूक्ष्म जीवों की द्रव्य हिंसा को कैसे बचायेगा ? नहीं बचा सकता ।

भावार्थ—रात्रि भोजन मे भावहिंसा की अधिकता के अतिरिक्त द्रव्यहिंसा भी बहुत होती है । रात्रि में यदि दिया न जलाया जावे तो अन्धेरे में भोजन बनाते या खाते समय बडे २ जीवों का भी पता नहीं चलता और यदि दिया जलाया जावे तो रोशनी से खिचकर नाना प्रकार के अनेक छोटे २ कीट पतग आदि जीव एकत्रित हो जाते हैं और भोजन में गिरते ही हैं । उन जीवों की द्रव्यहिंसा होती ही है उसे किसी प्रकार नहीं बचाया जा सकता ।

रात्रि भोजन त्याग में अहिंसा की सिद्धि

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्ध यो मनोवचनकायै ।
परिहरति रात्रिभुक्ति सततमहिंसा स पालयति ॥१३४॥

अन्वय.—वा बहुप्रलपितै किं । य मनोवचनकायै रात्रिभुक्ति परिहरति स सतत अहिंसा पालयति ।

सूत्रार्थ—अथवा बहुत कहने से क्या ? जो पुरुष मन वचन काय से रात्रि भोजन को छोड़ता है वह निरन्तर अहिंसा को पालता है ।

प्रश्न ६१—रात्रिभोजन का क्यो त्याग करना चाहिये ?

उत्तर—क्योंकि उसमे द्रव्यहिंसा और भावहिंसा दोनों की अधिकता है । द्रव्यहिंसा तो इसलिये अधिक है कि दिन की बजाये रात्रि में भोजन बनाने और खाने मे अधिक जीव मरते हैं और भावहिंसा इसलिये अधिक है कि दिन मे खाने से रात्रि में खाने में अधिक

मूर्च्छा है–लालसा है। अतः रात्रि मे भोजन बनाने और खाने का अवश्य त्याग करना चाहिये।

धर्म का फल रूप उपसहार

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामा ।
अनुपरत प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण ॥१३५॥

अन्वय —इति अत्र स्वहितकामा. ये मोक्षस्य त्रितयात्मनि मार्गे अनुपरत प्रयतन्ते, ते मुक्ति अचिरेण प्रयान्ति।

सूत्रार्थ—इस प्रकार इस लोक मे अपने हित के वाञ्छक जो कोई मोक्ष के रत्नत्रयात्ममार्ग मे निरंतर प्रयत्न करते हैं, वे मुक्ति को शीघ्र ही गमन करते हैं।

भावार्थ—यहा तक आचार्य देव ने पाच पापो का और उनके त्याग का निरूपण किया। जगत् में पाप पांच ही होते हैं और त्याग भी पाच ही प्रकार का होता है। इनके त्याग से चारित्र की पूर्ति होती है। इसलिये चारित्र का प्रकरण समाप्त करते हुये उपसहार रूप से आचार्य देव कहते हैं कि हमने पहले सूत्र २१ से ३० तक सम्यग्दर्शन का निरूपण किया, फिर ३१ से ३६ तक सम्यग्ज्ञान का निरूपण किया, फिर ३७ से यहा तक सम्यक्चारित्र का निरूपण किया। इस प्रकार जैसा निरूपण किया है उसी प्रकार से जो इन तीनों को धारण करेगा और उद्यमवान् होकर निरन्तर पुरुषार्थ करता हुआ इनको पालेगा वह शीघ्र ही आत्मा की पूर्ण प्राप्ति रूप मुक्त दशा को प्राप्त करेगा।

गृहस्थ के अणुव्रत–मूलव्रत–मूलधर्म का निरूपण समाप्त हुआ,
अब उत्तरव्रत–उत्तरधर्म शीलो का निरूपण करते हैं।

आठ शीलों का निरूपण

(सूत्र १३६ से १८० तक ४५)

भूमिका—अब प्रश्न यह है कि सम्यक्चारित्र का निरूपण तो हो चुका, अब क्या वर्णन करेंगे? उत्तर—बात ठीक है कि जगत् में

पाप पांच ही हैं और उनका त्याग ही चारित्र है। वह त्याग मुनि तो पूर्ण रूप से एकदम कर देते हैं पर श्रावक को क्योंकि भोगोपभोग का साधन न्यायपूर्वक करते हुये भी कुछ न कुछ अंश मे पाप होते ही हैं, इसीलिये उसे निम्नविधि को अंगीकार करना पडता है। पहले उसे मोटे रूप से पांचों पापों का त्याग कर पूर्व निरूपित अणुव्रत धारण करने चाहियें। इससे वह आंशिक चारित्र का धारी हो जाता है फिर इन पांच पापों को क्रमशः और कम करने के लिये आठ शीलो को धारण करना चाहिये। यह ध्यान रहे कि पाप तो पूर्व निरूपित पाच ही हैं और व्रत भी उनके त्याग रूप पाच ही हैं। ये आठ शील तो उन्हीं की विशेष शुद्धि के लिये धारण किये जाते हैं। इसलिये इनको व्रत नहीं किन्तु 'शील' कहते हैं। जिस प्रकार वाड खेत की रक्षा करती रहती है, उस प्रकार ये शील पांच व्रतों की रक्षा करते रहते हैं और पांच पापों की निवृत्ति को क्रमशः कम करते रहते हैं और गृहस्थ का गमन मुनि धर्म अर्थात् पूर्ण त्याग की ओर बढ़ाते रहते हैं। इसलिये स्वहित वांछक पुरुषों को इन्हें भी अवश्य पालना चाहिये। यही अब कहते हैं—

आठ शीलों के पालने की प्रेरणा

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥१३६॥

अन्वयः—किल नगराणि परिधय इव शीलानि व्रतानि पालयन्ति। तस्मात् व्रतपालनाय शीलानि अपि पालनीयानि।

सूत्रार्थ—वास्तव मे नगरों को परिधियों की तरह (आठ) शील व्रतों की रक्षा करते हैं। इसलिये व्रतपालने के लिये शील भी पालने चाहिये (भाव ऊपर भूमिका मे स्पष्ट हो चुका है)।

आठ शीलो की भूमिका समाप्त हुई।

(१) 'दिग्विरति' शील का निरूपण

(सूत्र १३७ से १३८ तक २)

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादा सर्वतोऽप्यभिज्ञानैः ।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्य कर्तव्या विरतिरविचलिता ।।१३७।।

अन्वय.— सुप्रसिद्धैं अभिज्ञानैः सर्वतः मर्यादा प्रविधाय प्राच्यादिभ्य दिग्भ्य अविचलिता विरति कर्तव्या ।

सूत्रार्थ—अत्यन्त प्रसिद्ध स्थानों द्वारा सब ओर से मर्यादा को करके पूर्वादि दिशाओ से परे अडोल त्याग (जीवन पर्यन्त का सब प्रकार के कार्यों का त्याग) करना चाहिये ।

भावार्थ—दसों दिशाओं मे भूगोल प्रसिद्ध स्थानों की मर्यादा करके जीवन पर्यन्त के लिये अपने भोगोपभोग के साधनों को उस सीमा के अन्दर मर्यादित कर लेना और उससे बाहर के लिये मुनिवत् नौ कोटिपूर्वक त्याग कर देना दिग्विरतिशील है । इससे मर्यादा से बाहर पांच पाप सर्वथा त्याग हो जाते हैं और पाच पापों का क्षेत्र सीमित रह जाने से त्याग मे वृद्धि होती है ।

दिग्विरति शील से लाभ

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य ।
सकलासयमविरहाद्भवत्यहिंसाव्रत पूर्णम् ।।१३८।।

अन्वय —य. इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते-तस्य ततः बहि सकलासयमविरहात् पूर्णं अहिंसाव्रत भवति ।

सूत्रार्थ—जो इस प्रकार मर्यादाकृत दिशाओं के भाग मे प्रवर्त्ता है उसके उस क्षेत्र से बाहर समस्त ही असयम का त्याग होने से पूर्ण अहिंसा व्रत होता है ।

भावार्थ— इस सारे ग्रंथ की नींव हिंसा अहिंसा पर है । हिंसा पाप है और अहिंसा धर्म है । सब व्रतों तथा शीलों के द्वारा अहिंसा

धर्म की पुष्टि करते आ रहे हैं तथा हिंसा पाप को छुड़ाते आ रहे हैं। सो सर्वत्र ध्यान रखना। इस प्रकार इस शील द्वारा भी ज्ञानी श्रावक अहिंसा अर्थात् शुद्ध चारित्र-निश्चय चारित्र की सिद्धि करते हैं। यही इसमे लाभ है।

(२) देशपरिणाम शील का निरूपण

(सूत्र १३९ से १४० तक २)

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम् ।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ॥१३९॥

अन्वय—च तत्र अपि ग्रामापणभवनपाटकादीनां परिमाणं प्रविधाय देशात् नियतकालं विरमणं करणीयं।

सूत्रार्थ—और उस दिग्विरति मे भी ग्राम, बाजार, मकान, मुहल्ला आदिकों का परिमाण करके मर्यादाकृत क्षेत्र से बाहिर किसी नियत समय पर्यन्त पाच पापों का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

भावार्थ—पहला शील जीवन पर्यन्त का है। उसका नाम 'दिग्विरति' है। यह मर्यादित समय का है। इसका नाम देशपरिमाण' है। विधि इसकी उसी प्रकार है। लाभ भी उसी प्रकार है। ये भोगोपभोग के साधनों की मर्यादा को और कम करके पाच पापों के त्याग में वृद्धि करता है और पाच व्रतों की विशेष रक्षा करता है। उस की क्षेत्र मर्यादा भोगोल प्रसिद्ध स्थानों से की जाती है जो जीवनपर्यन्त एक जैसी रहती है और इसकी मर्यादा प्रतिदिन की आवश्यकतानुसार मुहल्ले-गाव इत्यादिक तक की जाती है।

देशपरिमाण शील मे लाभ

इति विरतो बहुदेशात् तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात् ।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण ॥१४०॥

अन्वय —इति बहुदेशात् विरत विमलमति, तत्काल तद्गुत्य-हिंसाविशेषपरिहारात् विशेषेण अहिंसा श्रयति ।

सूत्रार्थ—इस प्रकार बहुत क्षेत्र का त्यागी निर्मल बुद्धिवाला श्रावक उस नियमितकाल में मर्यादाकृतक्षेत्र से उत्पन्न हुई हिंसा विशेष के परिहार से विशेषता से अहिंसा को आश्रय करता है ।

भावार्थ—एक प्रकार से मर्यादा से बाहिर श्रावक मुनिवत् हो जाता है क्योंकि पाच पापों का पूर्ण त्यागी है । अत बाहर पूर्ण अहिंसाव्रत हो जाता है । इस प्रकार इस शील द्वारा भी ज्ञानी अहिंसा-व्रत अर्थात् शुद्ध चारित्र की सिद्धि करते हैं ।

प्रश्नोत्तर प्रमाण सूत्र स०

प्रश्न ६२—शील किन्हें कहते हैं ?

उत्तर—जो नगरों की परिधियों की तरह व्रतों की रक्षा करते हैं—उन्हें शील कहते हैं । (१३६)

प्रश्न ६३—दिग्विरति शील का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—दसों दिशाओं में भूगोल प्रसिद्ध स्थानों तक जीवनपर्यन्त की मर्यादा करके उससे बाहिर के क्षेत्र मे पाच पापों का सर्वथा त्याग करना दिग्विरति शील है । (१३७)

प्रश्न ६४—देशपरिमाणशील का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—दिग्विरतिशील मे रखे हुये क्षेत्र के अन्दर भी ग्राम मकान आदि का परिमाण करके उससे बाहर के क्षेत्र मे नियत समय पर्यन्त के लिये पाच पापों का त्याग करना देशपरिमाणशील है । (१३९)

दिग्विरति तथा देशपरिमाण शील का निरूपण समाप्त हुआ ।

(३) अनर्थदण्डत्याग शील का निरूपण

(सूत्र १४१ से १४७ तक ७)

भूमिका—पूर्व दो शीलों द्वारा मर्यादित क्षेत्र से बाहर के पाच

पाप तो सर्वथा छूट ही जाते हैं। अब जितना क्षेत्र बचा है उसके विषय मे समझाते हैं कि कुछ पाप तो जीव लाचारीवश भोगोपभोग के साधनार्थ करता ही है किन्तु बहुत से पाप व्यर्थ यूं ही या कुसंगतिवश होते रहते हैं। उनको अनर्थदण्ड कहते हैं। अनर्थ का भाव है कि जिन से भोगोपभोग साधन का तो कुछ प्रयोजन ही नहीं और दण्ड का अर्थ है 'पाप' अर्थात् भोगोपभोग की प्राप्ति के विना होने वाला पाप। सो आचार्य महाराज उसका सविस्तार वर्णन करते हैं और इनके वर्णन का उद्देश्य यही है कि स्वहित चाहने वालों को मर्यादित क्षेत्र में भी इन अनर्थदण्डों का तो त्याग कर ही देना चाहिये और चौवीस घण्टे सावधान रहना चाहिये कि हमारे द्वारा कोई 'अनर्थदण्ड' तो नहीं हो रहा है। बहुत से अनर्थदण्डों की जीव को आदत हो जाती है—उन्हें व्यसन भी कह देते हैं। सो आत्महित चाहने वालों को पुरुषार्थ को बल देकर उन्हें भी एकदम या जल्दी छोड़ ही देना चाहिये। इसी में आत्महित है। आचार्य महाराज सम्पूर्ण अनर्थदण्डों को सात भेदों मे विभाजित करके क्रमश उनके त्याग की शिक्षा देते हैं—

(१) 'अपध्यान' अनर्थदण्डत्याग

पापर्द्धिजयपराजयसगरपरदारगमनचौर्याद्या ।
न कदाचनापि चिंत्या पापफल केवल यस्मात् ॥१४१॥

अन्वय.—पापर्द्धिजयपराजयसंगरपरदारगमनचौर्याद्या: कदाचन अपि न चिन्त्या। यस्मात् केवल पापफलं।

सूत्रार्थ—शिकार, जीत, हार, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी आदिक किसी समय मे भी नहीं चिन्तवन करना चाहिये क्योंकि इन अपध्यानों का (बुरे विचारों का) केवल पाप ही फल है।

भावार्थ—बहुत से जीवों को आदत होती है कि देश में होने वाली लडाइयों का विचार करके खुशी या दु.खी होते रहते हैं। कोई परस्त्री के विचार करते रहते हैं। कोई शिकार, चोरी, हार, जीत

इत्यादि की बातें विचारते रहते हैं, तो आचार्य कहते हैं कि मोक्षगामी श्रावक को इन से बचना चाहिये क्योंकि इनमे लाभ तो कुछ है ही नहीं। राग भाव होने से केवल बंध ही बंध है। व्यर्थ का दण्ड है।

(२) 'पापोपदेशदान' अनर्थदण्डत्याग

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीवाना पुसाम् ।
पापोपदेशदान कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ॥१४२॥

अन्वय —विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीवाना पुसा पापोपदेशदान वचन कदाचित् अपि न एव वक्तव्य ।

सूत्रार्थ—ज्योतिष-वैद्यक आदि विद्या, व्यापार, लेखन कला, खेती, नौकरी और कारीगरी आदि से आजीविका करने वाले पुरुषों के लिये पाप का उपदेश देने वाला वचन किसी समय भी नहीं बोलना चाहिये ।

भावार्थ—आजीविका मे हिंसा (पाप) होती ही है। अत. कभी किसी को व्यापारादि करने को नहीं कहना चाहिये तथा व्यापार आदि मे सलाह मशवरा नहीं देना चाहिये—व्यर्थ के दण्ड से हमे क्या ?

(३) 'प्रमादचर्या' अनर्थदण्डत्याग'

भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि ।
निष्कारण न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ॥१४३॥

अन्वय —भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि च दलफलकुसुमोच्चयान् अपि निष्कारण न कुर्यात् ।

सूत्रार्थ—पृथ्वी खोदना, वृक्ष उखाड़ना, अतिशय घासवाली जगह रौंदना, पानी सींचना आदि और पत्र, फल, फूल तोडना भी प्रयोजन के बिना न करे ।

भावार्थ—पृथ्वी जल अग्नि वायु और वनस्पति इनको पाच स्थावर जीव कहते हैं। बहुत से जीव इनका व्यर्थ बहुलता से प्रयोग

करते रहते हैं जैसे व्यर्थ पृथ्वी खोदना, जरा से जल का कार्य हो तो बाल्टियों की बाल्टिया डालना, फल फूल पत्तों को व्यर्थ ही तोडते रहना। क्योंकि इनमे स्थावर जीवों का घात तो होता ही है तथा वहा रहने वाले बहुत से त्रस जीव भी मरते हैं। अत इनका निष्कारण प्रयोग मुमुक्षु द्वारा नहीं किया जाना चाहिये।

(४) 'हिंसादान' अनर्थदण्डत्याग

असिधेनुविषहुताशनलागलकरवालकार्मुकादीनाम्।
वितरणमुपकरणाना हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ॥१४४॥

अन्वय —असिधेनुविषहुताशनलागलकरवालकार्मुकादीना हिंसाया उपकरणाना वितरण यत्नात् परिहरेत्।

सूत्रार्थ—छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष आदि हिंसा के उपकरणों का वितरण (अर्थात् दूसरों को देना) यत्नपूर्वक (हिम्मत से) छोडे।

भावार्थ—हिंसा करने वाली बहुत सी वस्तुयें गृहस्थ को अपने प्रयोगों मे तो लाचारी मे लानी पडती हैं पर उन्हें दूसरों को माग मे कदापि नहीं देना चाहिये क्योंकि वे उनसे हिंसा ही करेंगे। न ऐसी चीजों को बेचना या बनाना चाहिये। हिंसा की अधिकता वाला आजीविका का साधन भी नहीं करना चाहिये।

(५) 'दुःश्रुति' अनर्थदण्डत्याग

रागादिवर्द्धनाना दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥१४५॥

अन्वय —रागादिवर्द्धनाना अबोधबहुलाना दुष्टकथाना श्रवणार्जनशिक्षणादीनि कदाचन न कुर्वीत।

सूत्रार्थ—राग, द्वेष, मोह क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के बढाने वाली तथा बहुत अज्ञानता से भरी हुई दुष्ट कथाओं का सुनना,

संग्रह, सीखना आदिक किसी समय भी न करे।

भावार्थ—नावलों का, अखबारों का, राज समाज स्त्री भक्त चोर इत्यादिक कथाओं का, सिनेमा की पुस्तकों का, बनाना, सुनना, पढ़ना, पढ़ाना, बेचना इत्यादिक कभी नहीं करना चाहिये। इनसे खोटी प्रवृत्ति की शिक्षा मिलती है तथा ये चारित्र से भ्रष्ट करने वाली हैं। व्यर्थ का समय और पैसा भी बरबाद होता है। आत्मा मे नाना प्रकार के राग द्वेष और कषायें उत्पन्न होने लगती हैं। अधिकतर व्यभिचार की शिक्षा मिलती है। केवल चारों अनुयोगों की धार्मिक पुस्तकों का ही शौक रखना चाहिये। तथा भोगोपभोग साधनार्थ लाचारी मे कम से कम आजीविका साधन की पुस्तकें पढनी पडे तो दूसरी बात है पर शेष सब छोडने योग्य ही हैं। ऐसा यहा आशय है।

(६) जुवा' अनर्थदण्डत्याग--खास सूत्र

सर्वानर्थप्रथम मथन शौचस्य सद्म मायाय ।
दूरात्परिहरणीय चौर्यासत्यास्पद द्यूतम् ॥१४६॥

अन्वय —सर्वानर्थप्रथम[1], शौचस्य मथन[2], मायाया सद्म[3], चौर्यासत्यास्पद[4], द्यूत दूरात् परिहरणीय ।

सूत्रार्थ—(१) सब अनर्थों का मुखिया (२) शुद्धि का नाश करने वाला (३' माया का घर (४) चोरी तथा असत्य का स्थान—जुआ दूर से ही त्याग कर देना चाहिये।

भावार्थ—(१) 'सब अनर्थों का मुखिया' का भाव ऐसा है कि जुआ खेलने वाले को सात क्या-असख्यात व्यसन आ घेरते हैं। ऐसा ही कोई अविनाभाव है- वस्तु स्वभाव है। जुआ सब व्यसनों का सरदार है। (२) 'शुद्धि का नाश करने वाला' का ऐसा भाव है कि जुआरी की आत्मा हर समय मलीन रहती है। चौबीस घन्टे पापमय प्रवृत्ति रहती है। शुभ या शुद्ध भाव उसे छू भी नहीं पाता (३) 'माया

का घर' का भाव ऐसा है कि जुआरी को हर समय पैसे की आवश्यकता रहतीहै और उसके लिये माया का प्रयोग करता ही है (४) 'चोरी और असत्य का स्थान' जुआ इस कारण से है कि पैसे के लिये चोरी भी करता है और झूठ भी बोलता है। आचार्य महाराज का और हमारा भी विचार ऐसा है कि जुआरी धर्म कर्म के लायक तो रहता ही नहीं। जीव का सब से अधिक बुरा करने वाला यह जुआ है। जुआरी का सुधरना भी हमारी राय से तो असभव जैसा ही है। किसी का भाग्य ही अच्छा हो तो कुछ कह नहीं सकते। अन्त में गुरु महाराज शिक्षा देते हैं कि भाई हम अधिक क्या कहें—हितवाछक पुरुषों को इसे दूर से ही नमस्कार कर देना चाहिये। बाकी हमने श्रीरत्नकरण्डश्रावकार टीका पन्ना १२३, १२४ मे लिखा है। उसे पढिये।

(७) 'अन्य' अनर्थदण्डत्याग तथा अनर्थदण्डत्याग का फल

एवविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्ड य.।
तस्यानिशमनवद्य विजयमहिंसाव्रत लभते ॥१४७॥

अन्वयः—य. एवविव अपर अनर्थदण्ड ज्ञात्वा मुञ्चति, तस्य अनवद्य अहिंसाव्रत अनिशं विजयं लभते।

सूत्रार्थ—जो इस प्रकार के अन्य भी बहुत से अनर्थदण्डों के स्वरूप को जानकर छोडता है, उसके निर्दोष अहिंसाव्रत निरन्तर विजय प्राप्त करता है।

भावार्थ—अनर्थदण्डों की जगत् मे कोई गिनती नहीं है। व्यर्थ की गप्पें मारना, ताश, शतरज, चौपड, अखबार, सिनेमा, नाचघर, क्लबों के खेल, इत्यादिक लाखों बातें हैं। मोक्षार्थी जीव को इन सब व्यर्थ के कार्यों से अपने को बचाना चाहिये और उस समय को शास्त्र स्वाध्याय में लगाना चाहिये। इस प्रकार अपने मर्यादित क्षेत्र मे व्यर्थ के दण्डों को सर्वथा छोड देना चाहिये—इससे अणुव्रतों को पुष्टि मिलती है और पापों मे कमी होती है। अहिंसाव्रत विशेष पुष्ट होता है। इस प्रकार इस शील द्वारा भी ज्ञानी शुद्ध चारित्र की सिद्धि करते हैं।

अनर्थदण्डत्याग पर प्रश्नोत्तर प्रमाण सूत्र स०

प्रश्न ६५—अपध्यान अनर्थदण्डत्यागशील का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—शिकार, हार, जीत, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी आदि का किसी समय मे भी विचार न करना अपध्यानअनर्थदण्डत्याग शील है। (१४१)

प्रश्न ६६—पापोपदेशदान अनर्थदण्डत्याग का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—किसी प्रकार की आजीविका करने का उपदेश न देना या आजीविका के कार्यों मे राय मशवरा न देना पापोपदेशदान अनर्थ-दण्डत्याग शील है। (१४२)

प्रश्न ६७—प्रमादचर्या अनयदण्डत्याग शील का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—विना प्रयोजन पृथ्वी न खोदना, वृक्ष न उखाडना, अतिशय घासवाली जमीन न रौंदना पानी न सींचना आदि तथा पत्र फल फूल आदि न तोडना प्रमादचर्या अनर्थदण्ड त्याग शील है।

प्रश्न ६८—हिंसादान अनर्थदण्डत्याग शील का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुप आदि हिंसा के उपकरणों का वितरण न करना हिंसादानअनर्थदण्डत्याग शील है। (१४४)

प्रश्न ६९—दुश्श्रुति अनर्थदण्डत्याग शील का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—राग, द्वेष, क्रोध आदि के वढाने वाली तथा बहुत अज्ञानता से भरी हुई दुष्ट कथाओं का न सुनना, न सग्रह करना, न सीखना आदि दुश्श्रुति अनर्थदण्डत्याग शील है। (१४५)

प्रश्न ७०—जुआ आदि अनर्थदण्डत्याग शील का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—जुये को सब अनर्थों का मुखिया, शुद्धि का नाश करने वाला, माया का घर, चोरी तथा असत्य का स्थान जान कर छोड़ना

जुआ अनर्थदण्ड त्याग शील है। इसी प्रकार और भी सब अनर्थदण्डों को त्याग देना चाहिये। (१४६-१४७)

अनर्थदण्डो का निरूपण समाप्त हुआ

(४) सामायिक शील का निरूपण

(सूत्र १४८ से १५० तक ३)

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यवमलम्ब्य ।
तत्त्वोपलब्धिमूल बहुश सामायिक कार्यम् ॥१४८॥

अन्वय —निखिलद्रव्येषु रागद्वेषत्यागात् साम्य अवलम्ब्य, तत्त्वोपलब्धिमूल, सामायिक बहुश कार्यम् ।

सूत्रार्थ—समस्त पदार्थों मे राग द्वेष के त्याग पूर्वक साम्यभाव को अगीकार कर, आत्मतत्त्व की प्राप्ति का मूल कारण, सामायिक वारम्बर करना चाहिये।

भावार्थ—सामायिक सम् पूर्वक अय् धातु से बना है जिसका अर्थ है सब पदार्थो मे साम्यभाव पूर्वक गमन करना अर्थात् किसी भी पदार्थ मे इष्ट अनिष्ट की कल्पना करके राग द्वेष नहीं करना किन्तु सब का ज्ञाता दृष्टा रहना—यह तो सामायिक का नास्ति से अर्थ है। अस्ति से सामायिक का भाव है 'समता पूर्वक अपने आतमस्वभाव मे गमन करना—ठहरना—स्थिरता करना'। आत्मस्थिरता ही आत्मप्राप्ति का मूल कारण है क्योंकि बारहवें मे आत्मस्थिरता पूर्ण होती है तो तेरहवें मे आत्मा साक्षात् प्राप्त हो ही जाता है। इसलिये गुरु महाराज कहते हैं कि आत्मप्राप्ति का यह शील मूल कारण है। भाव अस्ति नास्ति का एक ही है। जो आत्मा में स्थिरता है—उसी को पर मे साम्य भाव कहते हैं। वह इस प्रकार है—

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमा ।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥२४१॥

निन्दा-प्रशसा, दु ख-सुख, अरि-बन्धु, मे जहा साम्य है ।
लोष्ठ-कनक मे, जिवित-मरण मे साम्य है-वो श्रमण है ॥२४१॥

सामायिक का वास्तविक पूर्ण स्वरूप यह है कि जहा ऐसी दशा हो जाती है । इसलिये यह शील आत्मप्राप्ति का मूल साधन होने के कारण गुरुदेव श्रावक को शिक्षा देते हैं कि उसे इस शील को बार बार पालना चाहिये ।

रजनीदिनयोरन्ते तदवश्य भावनीयमविचलितम् ।
इतरत्र पुन समये न कृत दोषाय तद्गुणाय कृतम् ॥१४९॥

अन्वय —तत् रजनीदिनयो' अन्ते अविचलित अवश्य भावनीय । पुन तत् इतरत्र समये कृत दोषाय न गुणाय कृत ।

सूत्रार्थ—वह सामायिक रात्रि और दिन के अन्त मे निश्चलता पूर्वक अवश्य ही करना चाहिये । फिर यदि वह अन्य समय मे भी किया जावे तो वह दोष के लिये नहीं है किन्तु गुण के लिये ही होता है अर्थात् उससे लाभ ही है । दो समय तो व्रती श्रावक करते ही हैं । सामायिक प्रतिमाधारी तीन समय भी करते हैं । निश्चलतापूर्वक का भाव है-उपसर्ग आने पर न डिगना ।

सामयिक शील से लाभ

सामयिकश्रिताना समस्तसावद्ययोगपरिहारात् ।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चारित्रमोहस्य ॥१५०॥

अन्वय —सामायिकश्रिताना एपा चारित्रमोहस्य उदये अपि समस्तसावद्ययोगपरिहारात् महाव्रत भवति ।

सूत्रार्थ—सामायिक दशा को प्राप्त हुवे इन श्रावकों के चारित्र मोह के उदय रहते हुये भी समस्त सावद्ययोग के त्याग से महाव्रत होता है [अर्थात् उतनी देर के लिये उपचार से वह श्रावक मुनिपने को प्राप्त हो जाता है-इतना बडा इस शील का लाभ है तथा माहात्म्य है] ।

प्रश्न ७१—सामायिक शील का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—सब पदार्थों में राग द्वेष के त्यागपूर्वक साम्य भाव का अवलम्बन करना अथवा अपने आत्मस्वभाव में स्थिरता करना सामायिक है। यह आत्मा की प्राप्ति का मूल कारण है ? (१४८)

सामायिक शील का निरूपण समाप्त हुआ।

(५) प्रोषधोपवास शील का निरूपण

(सूत्र १५१ से १६० तक १०)

सामायिकसस्कार प्रतिदिनमारोपित स्थिरीकर्तुम् ।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्त्तव्योऽवश्यमुपवास ॥१५१॥

अन्वय—प्रतिदिन आरोपित सामायिकसस्कार स्थिरीकर्त्तुं द्वयो. अपि पक्षार्द्धयो उपवास अवश्य कर्त्तव्य ।

सूत्रार्थ—प्रतिदिन अगीकृत सामायिक सस्कार को स्थिर करने के लिये दोनों ही पक्षों के अर्द्ध भागों में अर्थात् अष्टमी चतुर्दशी के दिन उपवास अवश्य ही करना चाहिये।

भावार्थ—सामायिक में श्रावक केवल अन्तर्मुहूर्त के लिये पांच पापों का त्याग करता है और प्रोपधोपवास मे १६ पहर के लिये ५ पापों का त्याग करता है। इसलिये इस शील द्वारा सामायिक शील के ससार को पुष्ट किया जाता है अर्थात् श्रावक यह जांचता है कि जिस प्रकार मैं पांच पाप को अन्तर्मुहूर्त के लिये छोड़ सकता हूं—उसी प्रकार दो दिन के लिये भी छोड़ सकता हू। अत यह शील सामायिक से बड़ा है। जब इस शील द्वारा १६ पहर तक पाच पाप का त्याग कर देता है तो फिर वह यह भी विचार सकता है कि मैं मुनि होकर इनको जीवन पर्यन्त भी छोड़ सकता हू । अत. यह शील जहां सामायिक सस्कार को पुष्ट करता है वहा महाव्रत की शिक्षा भी देता है। अतः इस शील

का महान् लाभ है। अब इस शील को पालने की विधि प्रारम्भ से अन्त तक सविस्तार निरूपण करते हैं—

प्रोषधोपवास की विधि १५२ से १५६ तक ५

मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे ।
उपवास गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥१५२॥

अन्वय —मुक्तसमस्तारम्भ देहादौ ममत्व अपहाय प्रोषधदिन-पूर्ववासरस्यार्द्धे उपवास गृह्णीयात् ।

सूत्रार्थ—छोड दिया है समस्त आरम्भ को जिसने ऐसा श्रावक शरीरादिक मे ममत्व भाव को छोड कर, प्रोषध के दिन (धारणा के दिन) मध्याह्न में उपवास को अगीकार करे अर्थात् सप्तमी और तेरस को मध्याह्न से उपवास प्रारम्भ करे ।

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय ।
सर्वेन्द्रियार्थविरत कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥१५३॥

अन्वयः—विविक्तवसतिं श्रित्वा समस्तसावद्ययोग अपनीय सर्वेन्द्रियार्थविरत कायमनोवचनगुप्तिभि तिष्ठेत् ।

सूत्रार्थ—सप्तमी और तेरस की दोपहर को ही निर्जनवस्तिका को प्राप्त करके, सम्पूर्ण सावद्य योग को त्यागकर और सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय से विरक्त होकर, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति सहित स्थित होवे ।

धर्मध्यानाशक्तो वासरमतिवाह्य विहितसाध्यविधिम् ।
शुचिसस्तरे त्रियामा गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्र ॥१५४॥

अन्वय —धर्मध्यानाशक्त सन् वासर अतिवाह्य, विहितसाध्य-विधि, स्वाध्यायजितनिन्द्र, शुचिसंस्तरे त्रियामा गमयेत् ।

सूत्रार्थ—धर्मध्यान मे लीन होता हुआ सप्तमी और तेरस के दिन को व्यतीत करके, फिर सायङ्काल की सामायिकादि विधि को

करके, स्वाध्याय से जीत लिया है सप्तमी और तेरस की रात्रि की नींद को जिनसे ऐसा जीव पवित्र संथारे पर जागता हुआ और स्वाध्यायादि करता हुआ ही रात्रि को व्यतीत करे। सोवे नहीं।

प्रातः प्रोत्थाय तत कृत्वा तात्कालिक क्रियाकल्पम्।
निर्वर्तयेद्यथोक्त जिनपूजा प्राशुकैर्द्रव्यैः ॥१५५॥

अन्वय—ततः प्रातः प्रोत्थाय तात्कालिक क्रियाकल्प कृत्वा प्राशुकैः द्रव्यैः यथोक्त जिनपूजा निर्वर्तयेत्।

सूत्रार्थ—फिर अष्टमी और चतुर्दशी की सुबह को उठकर, प्रातःकाल संबन्धी क्रियासमूह को करके, प्राशुक (निर्जीव) द्रव्यों द्वारा शास्त्रोक्त विधि से जिनेन्द्रदेव की पूजा को करे।

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवस द्वितीयरात्रिं च।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्द्धं च तृतीयदिवसस्य ॥१५६॥

अन्वय—तत उक्तेन विधिना दिवसं च द्वितीयरात्रिं नीत्वा च तृतीयदिवसस्य अर्द्धं प्रयत्नात् अतिवाहयेत्।

सूत्रार्थ—पूर्वोक्त विधि से ही उपवास के दिन को और दूसरी रात्रि को व्यतीत करके फिर तीसरे दिन के आधे को भी अतिशय यत्नाचारपूर्वक व्यतीत करे।

भावार्थ—अष्टमी और चतुर्दशी के सारे दिन को और अष्टमी चतुर्दशी की सम्पूर्ण रात्रि को तथा नवमी और पन्द्रस के मध्याह्न तक धर्मध्यान पूर्वक आलस्य रहित विना सोये ही व्यतीत करे। प्रायः ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है कि लोग नवमी को तथा पन्द्रस को प्रात. ही व्रत छोड़ देते हैं किन्तु वह गलत है। सप्तमी और तेरस की तरह नवमी और पन्द्रस को भी ठीक मध्याह्न तक पूर्व विधानपूर्वक धर्मध्यान से ही व्यतीत करे क्योंकि यह शील १६ पहर का होता है। जिस समय उपवास से पहले दिन प्रारम्भ करते हैं—उसी समय उपवास से अगले दिन खोलते हैं।

प्रोषधोपवास से लाभ १५७ से १६० तक ४

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्य ।
तस्य तदानी नियत पूर्णमहिंसाव्रत भवति ।।१५७।।

अन्वय —परिमुक्तसकलसावद्य' यः इति षोडशयामान् गमयति, तस्य इदानी नियत पूर्णं अहिंसाव्रत भवति ।

सूत्रार्थ—इस प्रकार छोड दिया है सम्पूर्ण सावद्य को जिसने ऐसा, जो कोई गृहस्थ इस प्रकार सोलह पहरों को बिताता है, उसके उतने समय तक वास्तव मे पूर्ण अहिंसाव्रत होता है [अर्थात् उपचार से वह १६ पहर तक महाव्रतपने को प्राप्त हो जाता है। वह पूर्ण महाव्रतपने को कैसे प्राप्त हो जाता है, इसको अगले दो सूत्रों मे खोलकर सविस्तार दिखलाते हैं कि उस श्रावक के उतने समय तक पाच पापों मे से कोई सा भी पाप नहीं है-इसलिये ही वह पूर्ण अहिंसाव्रत का धारी महाव्रतीवत् है। अगले तीन सूत्र इसी सूत्र का स्पष्टीकरण हैं]।

भोगोपभोगहेतो स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषाम् ।
भोगोपभोगविरहाद् भवति न लेशोऽपि हिंसाया. ।।१५८।।

वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृत न समस्तादानविरहत स्तेयम् ।
नाब्रह्म मैथुनमुच सगो नागेऽप्यमूर्च्छस्य ।।१५९।।

इत्थमशेषितहिंस प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात् ।
उदयति चारित्रमोहे लभते तु न सयमस्थानम् ।।१६०।।

अन्वय —अमीषा गृहस्थाना किल भोगोपभोगहेतो स्थावरहिंसा भवेत् । भोगोपभोगविरहात् हिंसाया' लेश अपि न भवति । वाग्गुप्ते' अनृत नास्ति । समस्तादानविरहत स्तेय न । मैथुनमुच अब्रह्म न । अगे अपि अमूर्च्छस्य सगः न । इत्थ अशेषितहिंस स उपचारात् महाव्रतित्वं प्रयाति तु चारित्रमोहे उदयति सयमस्थान न लभते ।

सूत्रार्थ—इन देशव्रती' गृहस्थों के वास्तव मे भोगोपभोग के

कारण से ही स्थावर जीवों की हिंसा होती है किन्तु प्रोपधोपवास मे भोगोपभोग के त्याग से हिंसा का लेश भी नहीं होता, वचनगुप्ति के होने से झूठ भी नहीं है, सम्पूर्ण अदत्तादान के त्याग से चोरी भी नहीं है। मैथुन को छोडने वाले के अब्रह्म भी नहीं है और शरीर मे भी निर्ममत्व के परिग्रह भी नहीं है। इस प्रकार सम्पूर्ण हिंसा से जो रहित हो गया है ऐसा वह प्रोपधोपवास करने वाला गृहस्थ उपचार से महाव्रतपने को प्राप्त होता है परन्तु चारित्रमोह के उदय मे रहने के कारण सयमस्थान को (छठे सातवें गुणस्थान को) नहीं पाता है।

भावार्थ—सम्पूर्ण त्रसहिंसा तथा प्रयोजन रहित स्थावर हिंसा का त्यागी तो श्रावक अहिंसाणुव्रत मे ही हो जाता है। केवल भोगोपभोग के साधनार्थ जो स्थावर हिंसा करता था—उसका उपवास के दिन अभाव हो गया। अत पूर्ण अहिंसाव्रत सिद्ध हो गया। झूठ, चोरी, अब्रह्म का उपवास मे कुछ प्रयोजन ही नहीं है। परिग्रह मे अन्य सब परिग्रह तो १६ पहर के लिये छोडकर ही आया है। एक शरीर साथ है सो उसमे भी उसे मुनिवत् ममता नहीं है तभी तो उपवास को धारण किया है। प्रोपधोपवास का धारण करना ही उसके शरीर से ममत्व-रहितपने का सूचक है। इस प्रकार मुनिवत् पाचों पापों का सर्वथा त्याग होने से एक प्रकार से उतने समय तक महाव्रती ही है। अब कहते हैं कि वास्तव मे महाव्रती क्यों नहीं है ? उसका उत्तर यह है कि महाव्रत केवल पाप छोडने मात्र का नाम नहीं है—वह तो आत्मा की उस शुद्धि का नाम है जो इस जीव को सकल चारित्र को घातने वाली कर्म-प्रकृतियों के अभावपूर्वक छठे सातवें गुणस्थान मे ही प्राप्त होता है। श्रावक को प्राप्त हो ही नहीं सकता। अत उपचार से ही महाव्रती कहा जा सकता है। साक्षात् नहीं। इस प्रकार इस शील द्वारा भी ज्ञानी पांच पापों की निवृत्तिरूप अहिंसाव्रत को अर्थात् शुद्ध चारित्र को ही साधते हैं। यही इस शील का फल है।

प्रोषधोपवास शील पर प्रश्नोत्तर प्रमाण सूत्र स०

प्रश्न ७२—प्रोपनोपवास शील का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—सामायिक सस्कार को स्थिर करने के लिये अष्टमी चतुर्दशी को प्रोषध पूर्वक उपवास करना प्रोषधोपवास शील है। (१५१)

प्रश्न ७३—प्रोपवोपवास शील को धारण करने की क्या विधि है ?

उत्तर—धारणा (प्रोषध) के दिन मध्याह्न को साधारण हलके भोजन पश्चात् व्यापारादि सब कार्यों से निवृत्त होकर, शरीर तक मे ममत्व को छोडकर, एकान्तस्थान को आश्रय करके, पाच पापों और सर्व विषय कषायों का त्याग करे। मन वचन काय गुप्ति को धारण करे तथा धर्मध्यान और पठन पाठन मे आधे दिन को व्यतीत करे। सायकाल को सामायिक आदि विधि को करके शुद्ध सथारे पर रात्रि भर जागता हुआ धर्मध्यान से व्यतीत करे। उपवास को सुबह को प्रात.काल की क्रियाओं से निमट कर सामायिक के बाद प्रासुक द्रव्यों से भगवान् की पूजा शास्त्र विधि से करे और सारे दिन को धर्मध्यान मे व्यतीत करे। साय को फिर सामायिक आदि करके रात्रिभर जागता हुआ धर्मध्यान से व्यतीत करे। पारणा (प्रोषध) को प्रातःकाल की क्रियायो के बाद सामायिक करके भगवत पूजा करे और उस दिन के आधे दिन को भी अतिशय यत्नाचारपूर्वक मध्याह्न तक धर्मध्यान से ही व्यतीत करे। फिर उस दिन केवल एक बार हलका भोजन करे। इस प्रकार ठीक १६ पहर तक पाच पापों का छोडना प्रोषधोपवास शील है। (१५२ से १५६ तक)

प्रोपधोपवास शील का निरूपण समाप्त हुआ

(६) 'भोगोपभोग परिमाण' शील का निरूपण

(सूत्र १६१ से १६६ तक ६)

भूमिका—पचमगुणस्थानवर्ती ज्ञानी श्रावक और तो सब पापों

से स्वभाव से ही निवृत्त होता है—केवल भोग और उपभोग मे उसे कुछ हिंसा का पाप लगता है। सो उसमे भी बहुत कुछ पाप से बचने के लिये वह भोगोपभोग परिमाण शील को अगीकार करता है—जिसकी विधि इस प्रकार है—

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपित्याज्यौ ॥१६१॥

अन्वय —विरताविरतस्य भोगोपभोगमूला हिंसा (भवति) अन्यत न। (अत) वस्तुतत्त्व अधिगम्य तथा स्वशक्ति अपि अधिगम्य तौ अपि त्याज्यौ।

सूत्रार्थ—देशव्रती श्रावक के भोग और उपभोग के कारण से होने वाली हिंसा होती है—अन्य कारण से नहीं। इसलिये वस्तुतत्त्व को जानकर (भोगोपभोग योग्य पदार्थों के स्वभाव को जानकर) तथा अपनी शक्ति को भी जानकर (भोगोपभोग के पदार्थों मे अपनी लालसा तथा इच्छा रूप परिणामों को भी तोलकर) वे दोनों (भोग और उपभोग) भी छोडने योग्य हैं।

(१) वस्तुतत्त्व अधिगम्य—'वस्तुतत्त्व को जानकर' का ऐसा भाव है कि इस शील के पालने के लिये पहले तो प्रत्येक पदार्थ का परिज्ञान करना चाहिये कि किस पदार्थ मे कम हिंसा है, किसमे अधिक हिंसा है, किस मे बिलकुल नहीं है, कौन साधारण वनस्पति है, कौन प्रत्येक है, किस में कितना दोष है, कौन भक्ष्य है, कौन अभक्ष्य है, किसकी क्या मर्यादा है। इत्यादि रूप से जो भी पदार्थ प्रयोग करना है, पहले उसके बारे मे पूरा २ परिज्ञान करना चाहिये।

(२) स्वशक्ति अपि अधिगम्य —'अपनी शक्ति को भी जानकर' का ऐसा भाव है कि अपनी लालसा, इच्छा और परिणामों को जाचे कि किन पदार्थों के त्याग का उसमे निर्वाह हो सकता है किन का

नहीं, किन मे उसकी कम लालसा है, किन मे अधिक तथा अपने शरीर की परिस्थिति, रोग-निरोग अवस्था, कौन पदार्थ अपने शरीर को अनुकूल पडता है-कौन नहीं। इन सब बातों को पहले भली भाति विचार करे। जाच कर बुद्धिमान् श्रावक को फिर इस व्रत को अगीकार करना चाहिये और भोग और उपभोग के यम नियमों को ग्रहण करना चाहिये। ध्यान रहे कि जो उपर्युक्त दोनों बातो को पहले भली भाति विचार न करेगा-वह इस व्रत को ठीक न पाल सकेगा। इस प्रकार इस व्रतकी भूमिका रूप यह सूत्र लिखकर अब त्याग विधान का निरूपण करते हैं—

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम्।
करणीयमशेषाणा परिहरणमनन्तकायानाम् ॥१६२॥

अन्वय—यत एक अपि (अनन्तकाय) प्रजिघासु अनन्तान् जीवान् निहन्ति, तत अशेषाणा अनन्तकायाना परिहरण अवश्य करणीयम्।

सूत्रार्थ—क्योंकि एक भी साधारण वनस्पति को घातने की इच्छा करने वाला पुरुष अनन्त जीवो को मारता है, इसलिये सम्पूर्ण ही अनन्तकायों का परित्याग तो अवश्य ही करना चाहिये।

भावार्थ—यहां श्रावक के भोग उपभोग अर्थात् भोजन का प्रकरण चल रहा है। और भोजन मे सब्जी तरकारी एक खास अग है। अत. उसे उपदेश देते हैं कि भाई सब्जी खरीदते या बनाते समय यह ध्यान रखना कि जो निगोदिया जीवयुक्त वनस्पति है-वह तेरे भोजन मे प्रयोग नहीं होनी चाहिये क्योंकि उस वनस्पति के एक कणमात्र मे अनन्त जीवों का वास रहता है और उसके खाने से वे मर जाते हैं। श्रावक को कन्दमूलादि जो सदा निगोद युक्त रहते हैं-वे तो बिलकुल छोड देने चाहियें और अन्य वनस्पतियों की पहचान सीखनी चाहिये कि वे किस समय और किस दशा मे तो निगोद सहित हैं और कब निगोद

रहित हैं तथा कौन सदा साधारण हैं तथा कौन सदा प्रत्येक हैं इत्यादिक। फिर निगोद सहित अवस्था का त्याग करना चाहिये।

नवनीत च त्याज्य योनिस्थान प्रभूतजीवानाम्।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित् ॥१६३॥

अन्वय—च नवनीत त्याज्य, अस्ति यत. प्रभूतजीवाना योनिस्थान अस्ति। वा पिण्डशुद्धौ यत् किञ्चित् विरुद्ध अभिधीयते, तत् अपि त्याज्य अस्ति।

सूत्रार्थ—और मक्खन भी छोडने योग्य है क्योंकि बहुत जीवों का उत्पत्तिस्थान है तथा आहार शुद्धि में जो कुछ भी वस्तु विरुद्ध (अभक्ष्य) कही गई है, वह भी छोडने योग्य है।

भावार्थ—मक्खन मे हर समय उसी रंग के अनन्त जीवों की उत्पत्ति होती रहती है और उसके खाने से वे मर जाते हैं। अत वह तो श्रावक द्वारा छोडने योग्य ही है। यहा यह शंका हो सकती है कि मक्खन त्याग का उपदेश तो आचार्य देव पूर्व सूत्र ७१ मे कर आये थे—यहा पुन कहने में पुनरुक्त दोष आता है और श्री अमृतचन्द्र आचार्य जैसा ठोस विद्वान ऐसा कैसे कर सकता है? उसका समाधान यह है कि वहां मूलगुणों का प्रकरण था। अत. इसका त्याग लिखना आवश्यक ही था। मूल गुणों मे मद्य मास मधु मक्खन और पाच उदम्बर फलों का त्याग कराया है। सो मक्खन को छोडकर ये अन्य पदार्थ तो जैनों के हा कुल परम्परा से ही प्रयोग नहीं होते। अत. उनको याद नहीं किया। यहां प्रकरण श्रावक के भोग उपभोग अर्थात् भोजन का है और घी तो सब जैन प्रयोग करते ही हैं। घी मक्खन से तैयार होता है। पहले प्रत्येक जैनी अपने घर मे गाय भैंस रखते थे और स्वयं घी तैयार करते थे—अत श्रावक को भोजन के प्रकरण में विशेष रूप से फिर याद दिलाया है कि भाई मक्खन का प्रयोग तुम्हारे भोजन में कदापि नहीं होना चाहिये। ये पुनरुक्त दोष नहीं किन्तु विशेष करुणा का सूचक है।

उसके साथ ही कहते हैं कि हे विवेकी श्रावक ! तेरे भोजन मे तो कुछ भी जैनागम विहित विरुद्ध (अभक्ष्य) पदार्थ का प्रयोग नहीं होना चाहिये ।

पुन भावार्थ—भोजन शुद्धि मे इन बातों का विचार होना चाहिये (१) त्रस जीव का घात जिस पदार्थ मे हो वह तो कदापि प्रयोग नहीं करना चाहिये जैसे फल वगैरह अधिक पककर उनमे कीडे वगैरह हो जाते हैं (२) साधारण वनस्पति का कभी प्रयोग नहीं करना चाहिये जैसे आलू वगैरह । (३) नशा करने वाली अर्थात् ज्ञान को विकारी बनाने वाली वस्तु कभी नहीं खाना चाहिये । (४) जो भक्ष्य होने पर भी अपने शरीर को रोग उत्पादक हो या हानिकारक हो या किसी रोग के कारण निषिध्य हो, उसका प्रयोग आत्म हितैषी श्रावक को नहीं करना चाहिये । (५) घिनावना पदार्थ या उच्च कुलों मे न सेवन किया जाने वाला पदार्थ नहीं खाना चाहिये जैसे गन्ठा, लसन इत्यादिक । (६) प्रसिद्ध २२ अभक्ष्य या अन्य मर्यादा से बाहर की वस्तु का प्रयोग नहीं करना चाहिये । भाव यही है कि व्रती को न्यायपूर्वक धन से उपार्जित भोजन ही यथाशक्ति हर प्रकार की शुद्धता पूर्वक लालसा छोडकर केवल शरीर स्थिति अर्थ थोडा करना चाहिये । एक खास बात यह है कि जिनधर्म का नियम हिंसा अहिंसा के सिद्धांत पर आधारित है । व्यर्थ के आडम्बर पर नहीं । जैसे गाय भैंस को धुलाकर दूध निकालना, जैनी के हाथ का निकला हुआ दूध जल पीना, ब्राह्मण क्षत्रिय-वैश्य का नहीं इत्यादिक बातें अज्ञानियों की प्रचलित की हुई हैं । उनमें मूल तत्त्व कुछ नहीं । कोरी लोक मूढ़ता है । व्रती गृहस्थ को हर प्रकार से विवेकी होना चाहिये । बहुत सी बातें तो उल्टी हिंसाकारक प्रचलित हो गई हैं । वस्तु तत्त्व को विचार कर प्रत्येक कार्य करना चाहिये—इसी मे सब कुछ आ गया है । यहा तक तो सदोष पदार्थों के त्याग का उपदेश दिया । अब निर्दोष पदार्थों के त्याग का उपदेश मोक्षार्थ देते हैं ।

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्या ।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ॥१६४॥

अन्वय.—धीमता निजशक्ति अपेक्ष्य अविरुद्धा भोगाः अपि त्याज्या अत्याज्येषु अपि एकदिवानिशोपभोग्यतया सीमा कार्या ।

सूत्रार्थ—बुद्धिमान श्रावक के द्वारा अपनी शक्ति को देखकर अविरुद्ध (भक्ष्य) भोग भी छोड़ने योग्य हैं और जिन उचित (भक्ष्य) भोगोपभोगों का त्याग न हो सके, उनमें भी एक दिन रात आदि की उपभोग्यता से मर्यादा करना चाहिये ।

भावार्थ—सूत्र १६२, १६३ मे तो सदोषित पदार्थों के सर्वथा छोड़ने का उपदेश दिया । अब कहते हैं कि जो निर्दोष पदार्थ हैं उनमे भी बहुत कुछ तो बिलकुल ही छोडने योग्य हैं और जिनका छोडना अपनी सामर्थ्य से बाहर है, उनमे खाने और न खाने के समय की मर्यादा करके लालसा को घटाना ही चाहिये । पदार्थों के सेवन करते तो अनन्तकाल बीत गया है पर व्रती होने का शुभ अवसर अब ही आया है । अत इसे हाथ से नहीं खोना चाहिये । 'अपनी शक्ति को देख कर' शब्द का प्रयोग यद्यपि गुरुदेव अभी पहले सूत्र १६१ मे कर चुके थे किन्तु यहा इसे बडी आवश्यक बात समझ कर एक बार पुन. किया है क्योंकि बिना अपनी शक्ति विचारे किया हुआ त्याग भग हो जाता है जो उलटा महान् पापबन्ध का कारण होता है । विवेक पूर्वक किया हुआ कार्य ही इस लोक तथा परलोक मे हितकारक होता है । अत. विवेकी श्रावक सब प्रकार से अपने परिणाम, अपनी Position, अपनी स्थिति. कुटुम्ब की स्थिति, शरीर की स्थिति, देशकाल की स्थिति द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अनुकूलता देश विदेश के गमनागमन इत्यादि के विचार पूर्वक त्याग करना चाहिये जिससे फिर आकुलता न हो तथा जीवन निर्वाह भी शान्तिपूर्वक चलता रहे । हम कहां तक खोलें—आचार्यों ने सूत्रों में बहुत भाव भरे हैं । सूत्र तो सकेतमात्र हैं । भाव ज्ञानियों के हृदयगम्य है ।

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिम् ।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्तव्या ॥१६५॥

अन्वय—पूर्वकृतायां सीमनि पुनः अपि तात्कालिकी निजां शक्ति समीक्ष्य प्रतिदिवसं अन्तरसीमा कर्तव्या भवति ।

सूत्रार्थ—पहले की हुई सीमा में फिर भी उसी समय अनुसार अपनी शक्ति को देखकर प्रतिदिन अन्तरसीमा (सीमा में भी थोडी सीमा) करना चाहिये [भाव यह है कि जहां तक हो भोगोपभोग को घटाना ही चाहिये तथा घटाते रहना ही चाहिये ताकि जितनी हिंसा कम हो जाय उतना अच्छा है] ।

भावार्थ—इसमें भक्ष्य पदार्थों के भी कम से कम प्रयोग की शिक्षा दी गई है और शेष का समय की मर्यादा से हर समय त्याग पर त्याग करते रहना चाहिये ।

भोगोपभोग के त्याग से लाभ

इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान् ।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याहिंसा विशिष्टा स्यात् ॥१६६॥

अन्वय—इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टः बहुतरान् भोगान् त्यजति तस्य बहुतरहिंसाविरहात् विशिष्टा अहिंसा स्यात् ।

सूत्रार्थ—इस प्रकार जो गृहस्थ मर्यादित भोगों से तृप्त होकर अधिकतर भोगों को छोडता है, उसके बहुत हिंसा के त्याग से विशेष अहिंसा होती है [अर्थात् वह बहुत अधिक हिंसा के पाप से बच जाता है और उतने अंश में अहिंसा अर्थात् शुद्धि का साधक होता है । इस प्रकार इस शील द्वारा भी ज्ञानी चारित्र की ही साधना करते हैं] ।

भोगोपभोगशील पर प्रश्नोत्तर प्रमाण सूत्र सं०

प्रश्न ७४—भोगोपभोग परिमाण शील को ग्रहण करने की क्या विधि है ?

उत्तर—पहले भोग और उपभोग योग्य सम्पूर्ण पदार्थों मे हिंसादि के दोषों को तथा भक्ष्य अभक्ष्यपने को जानना चाहिये तथा फिर कितना त्याग मुझ से निर्वाह हो सकेगा इस प्रकार अपने परिणामों को भी तोलना चाहिये तब भोग उपभोग का त्याग (यम-नियम) ग्रहण करना चाहिये। (१६१)

प्रश्न ७५—भोगोपभोग शील के ग्रहण करने का मुख्य उद्देश्य क्या है ?

उत्तर—इस शील का सम्बन्ध अधिकतर श्रावक के भोजन से है। वह भोजन हर प्रकार से यथाशक्ति शुद्ध होना चाहिये। त्रसहिंसा का तो वह सर्वथा त्यागी है—वह तो उसके भोजन मे होनी ही नहीं चाहिये। मक्खन का प्रयोग तथा अनन्तकाय वनस्पति का प्रयोग भी विलकुल नहीं होना चाहिये। केवल भक्ष्य पदार्थों मे बहुत थोडे से थोडे पदार्थों का प्रतिज्ञापूर्वक प्रयोग करना चाहिये। उद्देश्य केवल जीवन निर्वाह का रखना चाहिये। (१६२ से १६६)

भोगोपभोगपरिमाणशील का निरूपण समाप्त हुआ।

'अतिथिसंविभाग' शील का निरूपण

(सूत्र १६७ से १७४ तक ८)

अतिथिसंविभागशील का लक्षण (स्वरूप)

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्वपरानुग्रहहेतो' कर्तव्योऽवश्यमतिथये भाग ॥१६७॥

अन्वय—विधिना, दातृगुणवता, द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय अतिथिये, स्वपरानुग्रहहेतो , भाग अवश्य कर्त्तव्य (अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दान। विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेष')।

सूत्रार्थ—विधि सहित (नवधा भक्तियुक्त), दाता के ७ गुण युक्त गृहस्थ द्वारा, द्रव्यविशेष का (देने योग्य भोजन का) दिगम्बर मुनि के

लिये अपने और पर (मुनि) के उपकार के कारण से, भाग (अपने लिये बनाये हुये भोजन मे से उसका हिस्सा–दान) अवश्य ही किया जाना चाहिये।

भावार्थ—'विधिना' शब्द से मुनि की नौधा भक्ति का सकेत है जिसका वर्णन स्वय सूत्र १६८ मे किया है। 'दातृगुणवत्ता' शब्द से दाता के ७ गुणों का सकेत है जिसका वर्णन सूत्र १६९ मे किया है। 'द्रव्यविशेपस्य' शब्द से देने योग्य भोजन कैसा होना चाहिये इसकी ओर सकेत है जिसका वर्णन सूत्र १७० मे किया। 'जातरूपाय अतिथये' शब्द से पात्र की ओर सकेत है जिसका निरूपण सूत्र २७१ मे किया है। 'स्वपरानुग्रहहेतो' शब्द से दान के फल का सकेत है जिसका निरूपण स्वय सूत्र २७२–२७३–२७४ मे किया है। 'भाग' शब्द अपने लिये बनाये हुये भोजन मे से दान का अर्थात् इस व्रत का द्योतक है। इस प्रकार सब पदों का तात्पर्य है जो स्वय गुरुदेव ने आगे खोलने की करुणा की है।

दान देने की विधि (नौधा भक्ति)

सग्रहमुच्चस्थान पादोदकमर्चन प्रणाम च।
वाक्कायमन शुद्धिरेपणाशुद्धिश्च विधिमाहु ॥१६८॥

अन्वय—सग्रह, उच्चस्थान, पादोदक, अर्चन, प्रणाम च वाक्कायमन शुद्धि च एपणाशुद्धि विधि आहु।

सूत्रार्थ—(१) पडगाना (२) ऊचा स्थान देना (३) पाव धोना (४) पूजा करना (५) प्रणाम करना (६) वचन शुद्धि (७) कायशुद्धि (८) मन शुद्धि (९) भोजन शुद्धि—इस विधि को आचार्य कहते हैं।

भावार्थ—उत्तम पात्र (मुनि) को प्रासुक–शुद्ध आहार नवधा भक्तियुक्त देने मे अपना धन्यभाग मानना चाहिये। दातार को नित्य भोजन समय रसोई तैयार करके, सब आरम्भ तज, सर्व भोजन–सामग्री

शुद्ध स्थान में रख, प्राशुक जल से भरा हुआ, ढका हुआ लोटा लेकर, अपने द्वार पर पात्र हेरने के लिये णमोकार मन्त्र जपते हुये खडा होना योग्य है। इसकी द्वारापेक्षण सज्ञा है।

(१) सग्रह (पडगाना)—जब मुनि अपने द्वार के सम्मुख आवे तो "स्वामिन् ! अत्र तिष्ठ २ अन्न जल शुद्ध है" ऐसा कहकर, आदर पूर्वक अपने गृह मे अतिथि को प्रवेश करावे, इसको सग्रह या प्रतिग्रहण या पड़गाना कहते हैं।

(२) उच्चस्थान—पश्चात् पात्र को बैठने के लिये पाटला (चौकी) दे। इसको उच्चस्थान कहते हैं।

(३) पादोदक—प्रासुक जल से चरण धोवे-अंग पोंछे।

(४) अर्चन—प्रासुक आठ द्रव्यों से शास्त्र विधि से पूजन करे।

(५) प्रणाम—नमस्कार करे।

(६, ७, ८, ९) वाक्कायमन शुद्धिरेषणाशुद्धि—वचनशुद्धि, काय शुद्धि, मन शुद्धि और भोजनशुद्धि करे।

इस प्रकार नवधाभक्ति एव शुद्धि पूर्वक सब प्रकार के भोज्य पदार्थ अलग २ कटोरी मे रखकर थाली मे लेकर मुनिराज के सन्मुख खडा होवे और ग्रास बना २ कर उनकी हस्ताञ्जली मे देवे। आवश्यकतानुसार प्राशुक जल भी देवे। पश्चात् कमण्डल, पीछी या शास्त्र की आवश्यकता देखे तो बहुत आदर एव विनयपूर्वक देवे। यदि पात्र के कोई रोग हो तो भोजन के साथ या अलग औषधि देवे।

दाता के ७ गुण

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कटतानसूयत्वम्।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणा ॥१६९॥

अन्वय—ऐहिकफलानपेक्षा, क्षान्ति, निष्कपटता, अनसूयत्व अविषादित्वमुदित्वे, निरहकारित्व इति हि दातृगुणा.।

सूत्रार्थ—(१) लौकिक फल की अपेक्षा रहितता (२) क्षमावानपना (३) निष्कपटीपना (४) ईर्षारहितपना (५) खेदभावरहितपना (६ हर्षभावरना (७) निरभिमानीपना—ये दाता के ७ गुण हैं।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी चारित्रवान् दातार ही दान देने का पात्र है क्योंकि विना स्वयं धर्मात्मा हुये सत्पात्र नहीं हो सकता। अन्य के न तो सच्ची त्यागबुद्धि ही हो सकती है और न पात्र-दान-द्रव्यादि का वोध ही हो सकता है। उसमे ये ७ गुण होने चाहियें। (१) ये भाव न हो कि मुनि महाराज को भोजन देकर इनसे औषधि, जन्त्र, मन्त्र, ऋद्धि आदि कुछ मिलेगा अथवा इनकी आशीर्वाद मात्र से ही मेरे निरोगता, धनप्राप्ति, पुत्रप्राप्ति आदि हो जायगी। अर्थात् दान देकर किसी भी लौकिक फल को सिद्ध करने की भावना दातार के अन्तरग मे नहीं होनी चाहिये (२) भोजन की तैयारी मे या देने की विधि मे किसी से कुछ त्रुटि हो जाये या दुर्भाग्यवश अन्तराय हो जाय तो क्रोध न आवे। पृथ्वीवत् महाधीरवीर क्षमावान् होना चाहिये (३) किसी मायावश भोजन न दे रहा हो—मानो अन्तर मे ऐसा भाव हो कि मैं भोजन न दूंगा तो धर्मात्माओं की गिनती मे कैसे गिना जाऊंगा अथवा समाज में बडप्पन कैसे रहेगा-इत्यादिक कोई भी कुटिलता उसके हृदय मे न होनी चाहिये (४ दूसरे की देखादेखी देना—पडौसी ने दिया और मैं न दूंगा तो मेरी क्या रहेगी—ऐसा कोई ईर्षाभाव नहीं होना चाहिये। (५) देकर पछताना—ओहो! मुनि महाराज के कारण आज दस रुपये खर्च होगये अथवा और किसी प्रकार भी मन मे दु:ख नहीं मानना चाहिये। (६) भोजन देने में अत्यन्त प्रसन्नता होनी चाहिये। अपना महा सौभाग्य समझे। जन्म सफल समझे। (७) मानो स्वयं समाज चौधरी हो, राजा हो, धनी हो, लोकनेता हो या अन्य कोई लौकिक प्रतिष्ठित पद से युक्त हो तो उसका अभिमानपना नहीं होना चाहिये क्योंकि धन से धर्म का दर्जा ऊंचा है। धन के दान से तो स्वर्ग ही मिल सकता है। धर्म से

मोक्ष मिलता है भाव यह है कि पात्र को अपने से बडा समझे और स्वयं को छोटा समझे। ऐसा न होना चाहिये कि अपने को बहुत कुछ समझे और पात्र को कुछ न समझे या एक भिकारीवत् समझे। सर्वज्ञों के ज्ञान मे सब भाव झलके हैं। ऐसी २ कमी जीवों मे होती है-वह न हो तो वही सच्चा दातार होता है।

देने योग्य भोजन

रागद्वेषासंयममददु खभयादिक न यत्कुरुते।
द्रव्य तदेव देय सुतपस्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥१७०॥

अन्वय —यत् रागद्वेषासंयममदद्ु खभयादिक न कुरुते, किन्तु सुतपस्वाध्यायवृद्धिकर अस्ति तत् द्रव्य एव देय।

सूत्रार्थ—जो भोजन राग, द्वेष, असयम, मद, दु ख,भय आदिक को नहीं करता है, किन्तु उत्तम तप तथा स्वाध्याय की वृद्धि करने वाला है, वह भोजन ही देने योग्य है।

भावार्थ—प्राय लोग मुनियो को महागरिष्ट और पौष्टिक भोजन देते हैं जो प्रमाद, आलस्य आदि का कारण बन स्वाध्याय और ध्यान मे विघ्नकारक बनता है। पर ऐसा वे लोग करते हैं जो अविवेकी हैं और वस्तु स्वरूप से अजान हैं। यहा ज्ञानियो का प्रकरण है। देने वाले भी ज्ञानी विवेकी श्रावक हैं और लेने वाले भी दिगम्बर सन्त हैं। उनको कैसा भोजन देना चाहिये इसका ज्ञान अस्ति नास्ति से कराया है कि जो स्वाध्याय, ध्यान, तप मे निमित्त हो वह भोजन तो देना चाहिये और जो प्यास लगावे, पुश्की करे, स्वप्न लावे, अनेक प्रकार के बुरे बुरे भावों मे निमित्त हो–ऐसा भोजन कदापि न देवे। दूसरे मुनिराज को उनके निमित्त बना हुआ "उद्देशिक आहार" नहीं देना चाहिये। अपने घर मे जो नियमित आहार बने, उसी मे से देना चाहिये।

पात्र का लक्षण तथा भेद

पात्र त्रिभेदमुक्त सयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरतसम्यग्दृष्टि विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥१७१॥

अन्वय —मोक्षकारणगुणाना संयोग पात्र, अविरतसम्यग्दृष्टि [1] च विरताविरत [2] च सकलविरत [3] त्रिभेद उक्त ।

सूत्रार्थ—मोक्ष के कारणरूप गुणों का अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप गुणों का संयोग जिनमे हो, ऐसा पात्र समूह अविरतसम्यग्दृष्टि तथा देशव्रती और महाव्रती तीन भेद रूप कहा गया है ।

भावार्थ—सूत्र की पहली पंक्ति मे तो पात्र का लक्षण है अर्थात् पात्र किसे कहते हैं ? उत्तर—जिसमे मोक्ष की कारणभूत सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र पर्यायें अंशिक रूप से प्रगट हो गई हों । फलितार्थ यह हुआ कि चौथे से छठे सातवें गुणस्थानवर्ती मुमुक्षु जीव । दूसरी पंक्ति में उसके भेदों का वर्णन है कि चौथे गुणस्थानवाला अविरत-सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र है । पांचवें गुणस्थानवाला देशव्रती मध्यम पात्र है और छठें सातवें गुणस्थानवाला मुनि उत्तमपात्र है । इस व्रत का निरूपण तो उत्तमपात्र की अपेक्षा ही होता है क्योंकि उनको तो नित्य भोजन देना ही चाहिये । गौण रूप से चौथे पाचवें गुणस्थानवाले हैं क्योंकि वे गृहस्थी हैं । उनकी वैयावृत्य की तो कभी आवश्यकता पडती है ।

[उपर्युक्त तीनो पात्रों को आहार, औषध, अभयदान तथा स्थान दान दिया जाता है । नकद पैसा या सामान या विषय कषाय पोषक सामग्री धर्मार्थ नहीं दी जाती । पीछी, कमण्डल, पुस्तक दिया जाता है । कपडा रखने वालों को उनके योग्य कपड़ा भी देते हैं । उनके उपसर्गों को दूर भी करते हैं । भाव यह है कि कुछ भी देते समय यह विचारिये कि जो कुछ आप दे रहे हैं—उसका प्रयोग मोक्षमार्ग मे होगा या विषय कषाय की पुष्टि मे । यदि मोक्षमार्ग मे निमित्तभूत वस्तु दोगे तो वह इस शील का अग है—अन्यथा लोक व्यवहार ही है । मोक्ष-मार्ग मे हर बात मे बहुत विवेक की आवश्यकता है—तभी कल्याण

होगा। कहां तक लिखें–विवेक से काम तो आपको स्वय लेना पडेगा। त्यागियों को रुपया देकर तो उन्हें जान बूझ कर मार्ग से भ्रष्ट करना है। भीख जैसी निकृष्ट वस्तु का लेना–देना इस सिंह समान उत्कृष्ट स्वाभिमानयुक्त मार्ग मे कहा है? ऐसा कदापि–कदापि–कदापि नहीं करना चाहिये और यदि अपना वस चले तो ऐसा होने भी नहीं देना चाहिये। इस पचमकाल की निकृष्ट कलीकाल वृत्ति से बचिये तथा धर्मात्माओ को बचाइये–उन्हे मजबूर कीजिये कि वे इस वृत्ति को तिलाञ्जलि दें]

[यहां इतनी बात और समझ लेने की है कि प्रकरण मोक्षमार्ग का है। मोक्षमार्ग रूप से तो उपर्युक्त दान से ही अतिथिसविभागव्रत का अश है। बाकी किसी भिखारी को कुछ देना–वह करुणा दान है उस से लौकिक फल मिल सकता है पर उससे मोक्षमार्ग का या इस व्रत का कुछ संवन्ध नहीं है। अन्यमत के त्यागी साधु को तो ज्ञानी देते ही नहीं हैं क्योंकि वह अपात्र हैं तथा उनको देना अधर्म का पोषण है। अपने सहधर्मियों को लेना देना लोकव्यवहार है। जैसा दिया वैसा ले लिया। पुत्र वगैरह को देना लौकिक पद्धति है। इन बातों से मोक्षमार्ग का सम्बन्ध नहीं है। केवल रत्नत्रय युक्त जीवो को–रत्नत्रय की पुष्टि अर्थ–रत्नत्रयधारी जीवो द्वारा–रत्नत्रय पोषक वस्तु का–भक्ति-पूर्वक दिया जाना ही वैयावृत्य या दान या अतिथिसविभाग शील है। शेष दानों का इस शील से कुछ सम्बन्ध नहीं है। सो ध्यान रहे]

अतिथि दान मे लाभ १७२, १७३, १७४ तक ३

हिंसाया पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ॥१७२॥

अन्वय:—यत अत्र दाने हिंसाया. पर्याय. लोभ निरस्यते, तस्मात् अतिथिवितरण हिंसाव्युपरमाण एव इष्ट।

सूत्रार्थ—क्योंकि इस दान मे हिंसा का पर्यायी लोभ नाश किया जाता है, इसलिये अतिथिदान हिंसा का त्याग ही माना गया है अर्थात् अहिंसाव्रत का अग ही है। इस शील द्वारा भी ज्ञानी शुद्ध भाव की सिद्धि करते हैं। और लोभ नामा अन्तरग परिग्रह का नाश करते हैं। अब इसी बात को नास्ति से कहते हैं—

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते।
वितरति यो नातिथये स कथ न हि लोभवान् भवति ॥१७३॥

अन्वय—य गृह आगताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परान् अपीडयते अतिथये न वितरति, स लोभवान् कथ न हि भवति।

सूत्रार्थ—जो गृहस्थ घर पर आये हुये रत्नत्रय गुणयुक्त और भ्रमर के समान वृत्ति से दूसरों को पीडा नहीं देने वाले मुनि के लिये भोजनादिक नहीं देता है, वह लोभी कैसे नहीं है ? अवश्य है।

भावार्थ—इस सूत्र मे गुरुदेव ने बडा अलौकिक भाव भरा है कि ऐसा भावलिंगी दिगम्बर सन्त जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की साक्षात् मूर्ति हो और जो किसी को रचमात्र भी पीडा नहीं देते। भ्रमर के समान नगर मे भ्रमण कर जाते हैं-किसी से कुछ कहते नहीं-याचना करते नहीं, ऐसा सन्त अपने हा आये और ज्ञानी श्रावक को उसके आहारदान का भाव न आये-यह कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। और जिसको ऐसा भाव न आये-समझना चाहिये कि वह कोई महालोभी-अपात्र या अभव्य जीव है। ज्ञानी श्रावक को तो स्वभाव से ऐसा भाव आता ही है। वस्तु स्वभाव ही ऐसा है कि जो जैसा होता है-उसको वैसे पर प्रीति आती ही है। हमे तो इस सूत्र की टीका लिखते ऐसा अनुभव हो रहा है कि गुरुदेव ने पुरातन काल का नकशा ही खींचकर हमारे सामने रख दिया है। क्या ही शुभ समय हो-जो हमे भी कोई ऐसा भावलिंगी सन्त देखने को मिले। पुन इसी को पुष्ट करते हैं—

दान से अहिंसा की सिद्धि

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्याग ।
अरतिविषादविमुक्त शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ॥१७४॥

अन्वय —आत्मार्थं कृत भक्त मुनये ददाति, इति भावित अरतिविषादविमुक्त [२], शिथिलितलोभ [३] त्याग: अहिंसा एव भवति ।

सूत्रार्थ—अपने लिये बनाये हुये भोजन को मुनि के लिये देवे-इस प्रकार भावनायुक्त[१] अरति और विषाद से रहित[२], तथा लोभ को शिथिल करने वाला[३], दान अहिंसा स्वरूप ही होता है ।

भावार्थ—(१) जिस दान मे अपने लिये बनाये हुये भोजन को पात्र के लिये देने जैसी उत्कृष्ट भावना है तथा (२) जिस दान मे अरति और विषाद जैसा अर्थात् दु ख और क्लेश जैसा कोई विभाव भाव नहीं है तथा (३) जिस दान मे लोभ कषाय का नाश किया जाता है-वह दान भला कैसे मोक्षमार्ग की साधक अहिंसा अर्थात् शुद्ध भाव का साधक न होगा ? होगा ही होगा । देखिये ! ज्ञानी इस शील द्वारा भी अपने शुद्ध चारित्र की ही पुष्टि करते हैं । यही इस शील का लाभ है ।

अतिथिसंविभाग शील पर प्रश्नोत्तर प्रमाण सूत्र स०

प्रश्न ७६—अतिथिसंविभाग शील का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—नवधा भक्ति सहित, दाता के ७ गुणयुक्त गृहस्थ द्वारा, स्वाध्याय तथा तप के बढाने योग्य भोजन का, दिगम्बर मुनि के लिये, स्वपर कल्याण के हेतु, अपने लिये बनाये हुये भोजन मे से देना, अतिथि संविभाव शील है । (१६७)

प्रश्न ७७—नौधा भक्ति क्या है ?

उत्तर—(१) पडगाना (२) बैठने के लिये उच्च स्थान देना (३) पांव धोना (४) पूजा करना (५) प्रणाम करना (६) वचन शुद्धि (७)

काय शुद्धि (८) मन शुद्धि और (९) भोजन शुद्धि। ये मुनि के भोजन देने की विधि है। (१६८)

प्रश्न ७८—दाता के ७ गुण बताओ ?

उत्तर—(१) लौकिक फल की अपेक्षा रहितता (२) क्षमावानपना (३) निष्कपटीपना (४) ईर्षारहितपना (५) खेदभाव रहितपना (६) हर्षभावपना (७) निरभिमानपना—ये दाता के ७ गुण हैं। (१६९)

प्रश्न ७९—देने योग्य भोजन कैसा होना चाहिये ?

उत्तर—जो भोजन राग, द्वेष, असयम, मद, दु ख, भय आदि को नहीं करता है किन्तु उत्तम तप और स्वाध्याय की वृद्धि करने वाला है—वह भोजन ही देने योग्य है। और ऐसा भोजन अपने लिये बनाये हुये भोजन मे से ही देना चाहिये। (१७०)

प्रश्न ८०—पात्र का क्या लक्षण है ?

उत्तर—मोक्ष के कारण रूप गुणों का सयोग जिनमे हो अर्थात् जिनमे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप पर्यायें प्रगट हो गई हों—उन जीवों को पात्र (अर्थात् दान लेने योग्य व्यक्ति) कहते हैं। (१७१)

प्रश्न ८१—पात्र के कितने भेद हैं ?

उत्तर—तीन—उत्तम पात्र, मध्यम पात्र, जघन्यपात्र। (१७१)

प्रश्न ८२—इन भेदो का स्वरूप बताओ ?

उत्तर—छठे सातवें गुणस्थान मे झूलते हुये सकलविरत दिगम्बर सन्त गुरु को उत्तम पात्र कहते हैं। पाचवें गुणस्थानवर्ती विरताविरत श्रावक को मध्यमपात्र कहते हैं। चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत-सम्यग्दृष्टि को जघन्यपात्र कहते हैं। (१७१)

प्रश्न ८३—अतिथिसविभागशील से क्या लाभ है ?

उत्तर—अपने को लोभ कषाय की कमी होने से निश्चय धर्म (अहिंसा) की सिद्धि है जो मोक्ष का कारण है। [पात्र को शरीर की स्थिति का निमित्त बना रहने से रत्नत्रय की सिद्धि का कारण है]। इससे स्व पर कल्याण—दोनों की सिद्धि है। (१७२, १७३, १७४)

अतिथिसंविभाग शील का निरूपण समाप्त हुआ।

(८) सल्लेखनाशील का निरूपण

(सूत्र १७५ से १८० तक ६)

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुं।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ॥१७५॥

अन्वय—इयं एका एव मे धर्मस्वं मया समं नेतुं समर्था इति भक्त्या पश्चिमसल्लेखना सततं भावनीया।

सूत्रार्थ—यह एक ही मेरे धर्मरूपी धन को मेरे साथ ले चलने को समर्थ है। इस प्रकार भक्तिपूर्वक (रुचिपूर्वक) अन्तिम मरण समय होने वाली सल्लेखना निरन्तर भानी चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार पांच पापों का त्याग प्रतिदिन भावपूर्वक पाला जाता है, उसी प्रकार इस व्रत को प्रतिदिन भावना मे भाना चाहिये "कि मैं मरणान्त मे अवश्य सल्लेखना धारण करूंगा क्योंकि यह सल्लेखना ही मेरे इस जन्म मे भाये हुये रत्नत्रय को मेरे साथ परलोक मे ले चलने को समर्थ है" [तथा इस सल्लेखना को धारण करना ही मनुष्य जन्म की सार्थकता है]।

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इति भावनापरिणतो नागतमपि पालयेदिदं शीलम् ॥१७६॥

अन्वय—अहं मरणान्ते अवश्यं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि इति भावनापरिणतः नागतं अपि इदं शीलं पालयेत्।

सूत्रार्थ—मैं अन्तिम मरण मे अवश्य ही (शास्त्रोक्त) विधि पूर्वक समाधि मरण को करूंगा, इस प्रकार की भावना से परिणत श्रावक अभी न आये हुये भी इस शील को पाले (क्योंकि आयेगा तो यह मरण समय मे)।

भावार्थ—"मैं मरण समय मे अवश्य समाधिमरण करूंगा' ऐसी भावना वाला श्रावक भावनारूप से तो इस व्रत को सदा पालता है और मरण समय मे साक्षात् पालता ही है।

सल्लेखना मे आत्मघात का दोष नही है

मरणेऽवश्य भाविनि कषायसल्लेखनातनुकरणमात्रे।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥१७७॥

अन्वय —मरणे अवश्य भाविनि कषायसल्लेखनातनुकरणमात्रे व्याप्रियमाणस्य रागादि अन्तरेण आत्मघात नास्ति।

सूत्रार्थ—मरण के निश्चित रूप से आ जाने पर कषायों को कृश करके कम करने मात्र व्यापार मे प्रवर्तमान श्रावक के रागादि भावों के बिना आत्मघात नहीं है [अर्थात् समाधि मरण मे आत्मघात का दोष नहीं है। क्यों? इसका उत्तर अगले सूत्र मे देते हैं]।

आत्मघात का लक्षण

यो हि कषायाविष्ट कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रै।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवध ॥१७८॥

अन्वय —य हि कषायाविष्ट (सन्) कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रै प्राणान् व्यपरोपयति, तस्य आत्मवध सत्य स्यात्।

सूत्रार्थ—जो कोई वास्तव मे क्रोधादि कषायों से आवेष्टित होकर स्वासनिरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्र आदिकों से अपने प्राणों को नष्ट करता है, उसके आत्मघात अवश्य होता है।

भावार्थ—जगत् मे आत्मघात एक तो जीव जब करते हैं जब

किसी रोग से अत्यन्त दुःखी हो जाते हैं, या स्त्री, पुत्र, भाई, माता पिता, कुटुम्बी आदि से कोई निरन्तर झगडा रहता हो, या समाज से कोई भयानक मुकदमा इत्यादिक लग गया हो, या अत्यन्त निर्धनता-दरिद्रता हो-खाने को रोटी न मिलती हो-इत्यादिक किसी दुःख के कारण क्रोधादि करके कुवे मे कूद जाते हैं, अग्नि मे जल जाते हैं, जहर खा लेते हैं या छुरा इत्यादि घोंप लेते हैं-सो गुरुदेव कहते हैं कि एक तो वह आत्मघात है। दूसरे कोई २ अज्ञानी पुरुष समाधिमरण का अभिप्राय अच्छी तरह समझे विना धर्म साधन के भले प्रकार योग्य होते हुवे भी अज्ञान वा कषायवश-विष-शस्त्रघातादि से मरने, अग्नि मे पडने, पर्वत से गिरने, जीते हुए जमीन मे गडकर समाधि लेने, झपापात करने, स्त्रिया सती होने अर्थात् मरे हुये पति के साथ जीती जलने इत्यादि अनेक प्रकार अनुचित रीति से प्राण-त्यागने में धर्म समझते हैं। इस प्रकार आत्मघात करना निंद्य और नरकादि कुगति का ले जाने वाला है। हा! जो ज्ञानीपुरुष मरण को सन्मुख होते हुवे या चारित्र भ्रष्ट होने के कारण प्राप्त होते हुवे निःकषाय भावपूर्वक प्राण त्याग करते हैं उनका ऐसा सुमरण अज्ञान तथा रागादि कषायों के अभाव से आत्मघात नहीं है किन्तु ज्ञानपूर्वक मन्द कषाय सहित होने से वर्तमान मे सुख का और परम्परा मोक्षप्राप्ति का कारण है।

सल्लेखना मे अहिंसा की सिद्धि रूप लाभ

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसा प्रसिद्धयर्थम् ॥१७९॥

अन्वय—यतः अत्र हिंसायाः हेतवः कषायाः तनुतां नीयन्ते, ततः सल्लेखना अपि अहिंसा प्रसिद्धयर्थं प्राहुः।

सूत्रार्थ—क्योंकि इस सन्यास मरण मे हिंसा के हेतुभूत कषाय क्षीणता को प्राप्त किये जाते हैं इसलिये सन्यास को भी आचार्यगण अहिंसा की प्रसिद्धि के लिये कहते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी जन इस सल्लेखना शील द्वारा नास्ति से कहो तो कषायों का नाश करके और अस्ति से कहो तो आत्मा मे स्थिरता रूप शुद्ध भाव करके अहिंसामयी निश्चय चारित्र की ही सिद्धि करते हैं। यही इस शील का लाभ है।

सल्लेखनाशील पर प्रश्नोत्तर प्रमाण सूत्र स०

प्रश्न ८४—सल्लेखना शील को पालने की क्या विधि है ?

उत्तर—' परलोक में रत्नत्रय को मेरे साथ ले जाने के लिये यही समर्थ है—इसलिये मैं मरण समय अवश्य भक्तिपूर्वक शास्त्रविधि अनुसार समाधि मरण धारण करूंगा"—इस भावना रूप से तो ये शील सदा भाया जाता है और मरण समय मे साक्षात् पाला ही जाता है। (१७५, १७६)

प्रश्न ८५—सल्लेखना शील से क्या लाभ है ?

उत्तर—क्योंकि इसमे हिंसा के कारण जो 'कषायें' हैं—वे कृश किये जाते हैं, इस लिये इससे निश्चय धर्म रूप अहिंसा (शुद्ध भाव) की सिद्धि है जो मोक्ष का कारण है। (१७९)

सल्लेखनाशील का निरूपण समाप्त हुआ

आठ शील पालने का उपसहार रूप फल

इति यो व्रतरक्षार्थं सतत पालयति सकलशीलानि ।
वरयति पतिवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्री ॥१८०॥

अन्वय —य इति व्रतरक्षार्थं सकलशीलानि सतत पालयति त शिवपदश्री उत्सुका पतिवरा इव स्वयमेव वरयति।

सूत्रार्थ—जो श्रावक इस प्रकार पांच अणुव्रतों की रक्षा के लिये समस्त ८ शीलों को निरन्तर पालता है, उसको मोक्षपद की लक्ष्मी, अतिशय उत्कण्ठित स्वयंवर की कन्या के समान, स्वयमेव वरण करती है-चुनती है—प्राप्त होती है।

भावार्थ—देखिये ! पूर्वसूत्र १३६ से यह शील का प्रकरण प्रारम्भ किया था। उस को यहां लाकर समाप्त किया है कि जो कोई श्रावक ५ अणुव्रतो के साथ इन ८ शीलों को भी पालता है—उसको मोक्ष-पद प्राप्त होता है।

८ शीलो पर	प्रश्नोत्तर	प्रमाण सूत्र सं०

प्रश्न ८६—शील कितने हैं—वे क्यो पाले जाते हैं—तथा उनसे क्या लाभ है ?

उत्तर—शील आठ हैं-वे पाच अणुव्रतों की रक्षा के लिये या एक अहिंसा व्रत की रक्षा के लिये पाले जाते हैं। इनके द्वारा शुद्धभाव की अर्थात् निश्चय चारित्र की सिद्धि की जाती है—जो मोक्ष का कारण है। (१८०)

प्रश्न ८७—उन शीलों के नाम बताओ तथा उनका निरूपण किन सूत्रो द्वारा किया गया है—यह भी बताओ ?

उत्तर—(१) दिग्विरति शील (सूत्र १३७ से १३८ तक) (२) देश-परिमाण शील (सूत्र १३९ से १४० तक) (३) अनर्थदण्डत्यागशील (सूत्र १४१ से १४७ तक) (४) सामायिक शील (सूत्र १४८ से १५० तक) (५) प्रोषधोपवास शील (सूत्र १५१ से १६० तक) (६) भोगोपभोगपरिमाण शील (सूत्र १६१ से १६६ तक) (७) अतिथिसंविभाग शील (सूत्र १६७ से १७४ तक) (८) सल्लेखना शील (सूत्र १७५ से १७९ तक)।

आठ शीलों का अर्थात् श्रावक के उत्तर धर्म का निरूपण समाप्त हुआ।

अतीचारों का निरूपण

(सूत्र १८१ से १९६ तक १६)

अतिचारा सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषे पञ्च पचेति।
सप्ततिरमी यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनो हेया ॥१८१॥

अन्वय —सम्यक्त्वे व्रतेषु च शीलेषु पच पच इति अमी सप्तति यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनः अतिचारा हेया ।

सूत्रार्थ—सम्यक्त्व मे, व्रतों मे और शीलों मे पाच २ इस क्रम से ये सत्तर जो आगे कहे जाते हैं, यर्थार्थ शुद्धि के रोकने वाले अतीचार (दोष) छोडने योग्य हैं ।

भावार्थ—एक सम्यक्त्व, ५ व्रत और ८ शील इस प्रकार १४ के पाच पाच के हिसाब के कुल ७० अतीचार होते हैं। ये व्रतों को (चारित्र को) मलीन करते हैं अत त्याज्य हैं । यहां हमने इनका सूत्रार्थ तो दे दिया है । भावार्थ श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार मे सविस्तार लिख आये हैं-वहा से देख लेना। यहा अक्षरश पुन उसी प्रकार लिखना हमें अच्छा नहीं लगा। विशेष कुछ लिखने को इच्छा न थी ।

(१) सम्यग्दृष्टि के ५ अतीचार

शका तथैव काक्षा विचिकित्सा सस्तवोऽन्यदृष्टीनाम् ।
मनसा च तत्प्रशसा सम्यग्दृष्टेरतीचारा ॥१८२॥

अन्वय —शका, काक्षा, विचिकित्सा, तथा एव अन्यदृष्टीना सस्तव च मनसा तत्प्रशसा (तेषा प्रशसा) सम्यग्दृष्टे अतीचारा· (सन्ति)। (शकाकाक्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशसासस्तवा) ।

सूत्रार्थ—(१) शका (२) काक्षा (३) विचिकित्सा और (४) अन्यमतियों की वचन से स्तुति और (५) मन से उनकी प्रशसा सम्यग्दृष्टि के ये पांच अतीचार हैं। [भावार्थ श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार मे सम्यग्दर्शन मे दोषों के निरूपण मे सूत्र २२ से २६ तक की टीका मे कर आये हैं] ।

(२) अहिंसा अणुव्रत के ५ अतीचार

छेदनताडनबन्धा· भारस्यारोपण समधिकस्य ।
पानान्नयोश्च रोध पचाहिंसाव्रतस्येति ॥१८३॥

अन्वय – छेदनताडनवधा अतिविक्रम्य भारस्य आरोपणं च पानान्नयोः रोधः इति पंच अहिंसाव्रतस्य अतीचाराः सन्ति (बन्धवधच्छेदाति-भारारोपणान्नपाननिरोधाः)।

सूत्रार्थ—(१) छेदना (२) ताडन करना (३) बांधना (४) अतिशय अधिक बोझ लादना और (५) अन्न पान का रोकना अर्थात् न देना या कम देना इस प्रकार ये पांच अहिंसा अणुव्रत के अतीचार हैं। [भावार्थ श्रीरत्न० सूत्र ५४ में स्पष्ट कर आये हैं]।

(२) सत्य अणुव्रत के ५ अतीचार

मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती।
न्यासापहारवचनं साकारमन्त्रभेदश्च ॥१८४॥

अन्वय—मिथ्योपदेशदानं, रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती, न्यासा-पहारवचनं च साकारमन्त्रभेदः इति पंच सत्यव्रतस्य अतीचाराः सन्ति (मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः)।

सूत्रार्थ—(१) झूठा उपदेश देना, (२) एकान्त की गुप्त बात का प्रगट करना (३) झूठा लिखना (४) धरोहर के हरण करने का वचन कहना और (५) काय की चेष्टाओं से जानकर दूसरे का अभिप्राय प्रगट कर देना, ये पांच सत्याणुव्रत के अतीचार हैं [भावार्थ श्री रत्न० सूत्र ५६ में स्पष्ट कर आये हैं]।

(४) अचौर्य अणुव्रत के ५ अतीचार

प्रतिरूपकव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।
राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च ॥१८५॥

अन्वय—प्रतिरूपकव्यवहारः स्तेननियोगः तदाहृतादानं राज-विरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च पंच अचौर्यव्रतस्य अतीचाराः सन्ति (स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपक—व्यवहाराः।)

सूत्रार्थ—(१) प्रतिरूपक व्यवहार अर्थात् खालिस वस्तु मे उससे मिलती-जुलती कोई नकली चीज मिला कर बेचना (२) चोरी मे नियोग देना अर्थात् चोरी करने वालों को सहायता देना (३) चोर के द्वारा हरण की हुई वस्तु का ग्रहण करना (खरीदना) (४) राजा के प्रचलित किये हुये नियमों का उल्लघन करना जैसे चुगी चुराना, इनकम टैक्स चुराना इत्यादिक और (५) नापने तोलने के गज, बाट, तराजू आदि के वजन नाप वगैरह कम ज्यादा करना, ये पाच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं [भावार्थ श्री रत्न० सूत्र ५८ मे स्पष्ट कर आये हैं]।

५' ब्रह्मचर्य अणुव्रत के ५ अतीचार

स्मरतीव्राभिनिवेशानगक्रीडान्यपरिणयनकरणम् ।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयो पच ॥१८६॥

अन्वय —स्मरतीव्राभिनिवेशानगक्रीडान्यपरिणयनकरण अपरिगृहीतेतरयो. ईत्वरिकयो. गमने च पच ब्रह्मचर्यव्रतस्य अतिचारा सन्ति । (परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानगक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशा)

सूत्रार्थ—(१) काम सेवन की अतिशय लालसा रखना (२) योग्य अगों के अतिरिक्त अगो से काम क्रीडा करना (३) अन्य का विवाह करना और (४) कवारी तथा (५) विवाहिता स्त्रियों के यहा आना जाना अर्थात् उनसे किसी प्रकार के व्यापार व्यवहार इत्यादि का सवन्ध रखना ये ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाच अतीचार हैं [भावार्थ श्री रत्न० सूत्र ६० में स्पष्ट कर आये हैं]।

(६) परिग्रहत्यागाणुव्रत के ५ अतीचार

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम् ।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रिया पच ॥१८७॥

अन्वय —वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीना भेदयो

कुप्यस्य अपि परिमाणातिक्रिया पच परिग्रहत्यागव्रतस्य अतीचारा सन्ति । (क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमा)

सूत्रार्थ—घर-भूमि, सोना-चादी, धन-धान्य, दास-दासियो के दो दो भेदो के और वस्त्र के परिमाणों का उलङ्घन करना ये परिग्रह त्यागाणुव्रत के पाच अतीचार हैं।

(७) दिग्विरति शील के पाच अतीचार

ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यक्व्यतिक्रमा क्षेत्रवृद्धिरवधानम् ।
स्मृत्यन्तरस्य गदिता पचेति प्रथमशीलस्य ॥१८८॥

अन्वय —ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यक्व्यतिक्रमा क्षेत्रवृद्धि स्मृत्यन्तरस्य आधान इति पच प्रथमशीलस्य अतिचारा गदिता । (ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि) ।

सूत्रार्थ—ऊपर नीचे और समान भूमि के किये हुये प्रमाण का व्यतिक्रम करना, परिमाण किये हुये क्षेत्र की लोभादि के वश वृद्धि करना और की हुई मर्यादा का भूल जाना ये पाच प्रथम शील के अर्थात् दिग्विरति शील के अतीचार कहे गये हैं ।

(८) देश परिमाण शील के ५ अतीचार

प्रेषस्य सप्रयोजनमानयन शब्दरूपविनिपातौ ।
क्षेपोऽपि पुद्गलाना द्वितीयशीलस्य पचेति ॥१८९॥

अन्वय —प्रेषस्य सप्रयोजन आनयन शब्दरूपविनिपातौ पुद्गलाना क्षेप अपि इति पच द्वितीयशीलस्य अतीचारा सन्ति। (आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपा) ।

सूत्रार्थ—(१) प्रमाण किये हुये क्षेत्र से बाहिर कुछ भेजना (२) वहा से किसी वस्तु का मगवाना (३) शब्द सुनाना (४) रूप दिखाकर इशारा करना और (५) ककर पत्थर आदि फेंक कर अपना अभिप्राय प्रगट करना इस प्रकार पाच दूसरे शील के अर्थात् देश-परिमाण शील के अतीचार हैं।

(६ अनर्थदण्ड त्याग शील के ५ अतीचार

कन्दर्पं कौत्कुच्य भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यम् ।
असमीक्षिताधिकरण तृतीयशीलस्य पच इति ॥१६०॥

अन्वय.—कन्दर्प कौत्कुच्य भोगानर्थक्य मौखर्य अपि च असमीक्षिताधिकरण इति तृतीयशीलस्य पच अतीचारा सन्ति (कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि) ।

सूत्रार्थ—(१) हास्यमिश्रित काम के वचन कहना (२) भडरूप अयुक्त कायचेष्टा (३) भोगपभोग के पदार्थों का व्यर्थ सग्रह (४) बकवास और (५) विना विचारे मन वचन काय की प्रवृत्ति, इस प्रकार तीसरे शील अर्थात् अनर्थदण्डत्यागशील के पाच अतीचार हैं ।

(१०) सामायिक शील के ५ अतीचार

वचनमन.कायाना दु प्रणिधानमनादरश्चैव ।
स्मृत्यनुपस्थानयुता पचेति चतुर्थशीलस्य ॥१६१॥

अन्वय—वचनमन कायाना दु प्रणिधान अनादर च एव स्मृत्यनुपस्थानयुता इति चतुर्थशीलस्य पच अतीचारा: सन्ति (योगदुप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि) ।

सूत्रार्थ—वचन मन और काय की दुष्प्रवृत्ति, अनादर और सामायिक की किसी विधि का भूलना इस प्रकार चौथे शील के अर्थात् सामायिक शील के पाच अतीचार हैं ।

(११) प्रोषधोपवास शील के ५ अतीचार

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादान सस्तरस्तथोत्सर्ग ।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पचोपवासस्य ॥१६२॥

अन्वय—अनवेक्षिताप्रमार्जितमादान सस्तर तथा उत्सर्ग: स्मृत्यनुपस्थान च अनादर पच उपवासस्य अतीचारा. सन्ति । (अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि) ।

सूत्रार्थ— विना देखी और विना शोधी वस्तु का ग्रहण करना, छोडना, सथारे का न शोधना, किसी योग्य क्रिया का भूल जाना और अनादर, ये उपवास के पाच अतीचार हैं।

(१२) भोगोपभोगपरिमाण शील के ५ अतीचार

आहारो हि सचित्त सचित्तमिश्रस्सचित्तसम्बन्ध ।
दुष्पक्वोऽभिषवोपि च पचामी षष्ठशीलस्य ॥१९३॥

अन्वय—सचित्त सचित्तमिश्र सचित्तसम्बन्ध, दुष्पक्व च अपि अभिषव, आहार. अमी पच षष्ठशीलस्य अतीचारा. सन्ति (सचित्त-सम्बन्धसम्मिश्राभिषवदु.पक्वाहारा)।

सूत्रार्थ—(१) सचित्त आहार (२) सचित्तमिश्र आहार (३) सचित्त सम्बन्ध आहार (४ दुष्पक्व आहार और (५) गृष्ट आहार ये पांच छठे भोगोपभोगपरिमाण शील के अतीचार हैं।

(१३) अतिथिदान शील के ५ अतीचार

परदातृव्यपदेश सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च ।
कालस्यातिक्रमण मात्सर्य चेत्यतिथिदाने ॥१९४॥

अन्वय.—परदातृव्यपदेश सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च कालस्य अतिक्रमण च मात्सर्यं इति अतिथिदाने पच अतीचारा. सन्ति। (सचित्त-निक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमा.)।

सूत्रार्थ—(१) दूसरे दातार के नाम से देना (या अनादर से देना) (२) सचित्त वस्तु पर रखा हुआ आहार (३) सचित्त से ढका हुआ आहार (४) देने के समय का उलघन करके देना (या दान की किसी विधि वगैरह को भूल जाना) (५) डाह (ईर्षा बुद्धि से देना) इस प्रकार अतिथि दान शील के पाच अतीचार हैं।

(१४) सल्लेखना शील के ५ अतीचार

जीवितमरणाशसे सुहृदानुराग. सुखानुबन्धश्च ।
सनिदान पचैते भवन्ति सल्लेखनाकाले ॥१९५॥

अन्वय —जीवितमरणाशंसे सुहृदनुराग सुखानुबन्ध च सनिदान एते पच सल्लेखनाकाले भवन्ति । (जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबंधनिदानानि ।

सूत्रार्थ—(१) और जीने की इच्छा करना (२) जल्दी मरने की इच्छा करना (३) मित्रों (आदि) का अनुराग (समरण) (४) सुखानुबध अर्थात् इस जन्म मे भोगे हुये सुखो का चिन्तवन करना (अथवा मरने से डरना) (५) और निदान अर्थात् अगले जन्म मे किसी पद या वस्तु की प्राप्ति का संकल्प करना । ये पाच अतीचार समाधिमरण के समय में होते हैं ।

अतीचारो के छोडने का फल रूप उपसहार

इत्येतानतिचारानपरानपि सप्रतर्क्य परिवर्ज्य ।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात् ।।१९६।।

अन्वय —इति एतान् अतिचारान् अपरान् अपि सप्रतर्क्य-परिवर्ज्य अमलैः सम्यक्त्वव्रतशीलैः अचिरात् पुरुषार्थसिद्धि एति ।

सूत्रार्थ—इस-प्रकार (गृहस्थ) इन पूर्व मे कहे हुये अतीचारो को और दूसरे भी अतिचारों को विचार करके, छोडकर निर्दोष (शुद्ध) सम्यक्त्व–व्रत और शीलों द्वारा थोडे ही समय मे पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि को (मोक्ष को) प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—व्रत के एकदेश खण्डन को अतीचार कहते हैं । ये अतीचार एक एक व्रत के बहुत हो सकते हैं । आचार्यों ने जाति की अपेक्षा अथवा दृष्टात रूप से एक एक के पाच पाच लिख दिये हैं । जब तक व्रत का कुछ भी अश पालन रूप है । तब तक अतीचार है–यह इसका भाव है । यहा समझाते हैं कि जो कोई भी जीव अपने सम्यक्त्व को २५ दोषों रहित शुद्ध तथा ५ अणुव्रतों और ८ शीलों को भी सर्व अतीचारों से रहित शुद्ध पालेगा–वह थोडे ही समय में मोक्ष को प्राप्त करेगा । थोडे समय का यहां यह भाव है कि वह गृहस्थ है । उसका रत्नत्रय राग से मिश्रित है । जब मुनि होकर रत्नत्रय की पूर्ति करेगा

तो आत्मा के पूर्ण विकास को (मोक्ष को) प्राप्त हो जायेगा। यहां श्रावक धर्म का फल परम्परा मोक्ष दिखलाया है।

अतीचारों का निरूपण समाप्त हुआ

श्रावक को कुछ तपों के भी पालने की शिक्षा

(सूत्र १९७ से १९९ तक ३)

चारित्रान्तर्भावात् तपोऽपि मोक्षागमागमे गदित ।
अनिगूहितनिजवीर्यैन्तदपि निषेव्य समाहितस्वान्तै ॥१९७॥

अन्वय —आगमे चारित्रान्तर्भावात् तप अपि मोक्षाग गदित । [अत] अनिगूहितनिजवीर्यै समाहितस्वान्तै तत् अपि निषेव्य ।

सूत्रार्थ—शास्त्र मे, चारित्र के अन्तवर्ती होने से-तप भी मोक्ष का अग कहा गया है। इसलिये अपनी शक्ति को नहीं छिपाने वाले तथा अपनी आत्मा में स्थिरता करने वाले श्रावकों द्वारा वह तप भी सेवन करने योग्य है।

भावार्थ—श्रावकों के चारित्र का प्रकरण चला आ रहा है। पहले ५ अणुव्रतों का निरूपण किया, फिर ८ शीलों का निरूपण किया, फिर अतीचार रूप से चारित्र के दोषों का निरूपण किया, और श्रावकों को शिक्षा दी कि उन्हें चारित्र में दोष भी नहीं लगने देने चाहियें। अब श्रावकों को एक बात और बतलाते हैं कि भाई! तप भी चारित्र का अग है। वह भी तुम्हें जरूर पालना चाहिये। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' में तप भी अन्तर्भूत है। अतः वह भी मोक्ष का अग है। सो भाई पूरे रूप से तो इन तपों को मुनिगण ही पालते हैं पर तुम्हें भी अपनी शक्ति को न छिपा कर बल्कि वीर्य को उत्तेजित करके-स्फुरित करके और आत्मा में स्थिरता करके इन तपों को भी पालना चाहिये।

वह तप बाह्य और अन्तरग के भेद से दो प्रकार का है।

जिस प्रकार इन्द्रिया प्रबल होकर मन को चचल न होने दे–उस प्रकार चारित्र के अनुकूल कायक्लेशादि का साधना वाह्य तप है और अविपाक निर्जरा के निमित्त अन्तरग मे विपय कषायो से निवृत्ति करना अन्तरग तप है। इनका भेदो सहित निरूपण अगले दो सूत्रो मे करेगे। तपो को भले प्रकार भाने मे स्नेह (राग–द्वेप–मोह) का नाश होने से तथा योग का निरोध होने से सवर निर्जरा होती है। यह तप के पालन करने से लाभ है। इस प्रकार तपो द्वारा भी श्रावक अहिंसा धर्म अर्थात् शुद्ध चारित्र की साधना करते हैं।

वाह्य ६ तप

अनशनमवमोदर्य विविक्तशय्यासन रसत्याग ।
कायक्लेशो वृत्ते सख्या च निषेव्यमिति तपो वाह्यम् ॥१९८॥

अन्वय —अनशन, अवमोदर्यं, विविक्तशय्यासन, रसत्याग, कायक्लेश च वृत्ते सख्या, इति वाह्य तप निषेव्य।

सूत्रार्थ—(१) अनशन (उपवास) (२) अवमोदर्य (भूख से कम खाना) (३) विविक्तशय्यासन (एकान्त स्थान मे सोना वैठना) (४) रस त्याग (सब या कुछ रसों का त्याग करना (५) कायक्लेश (शरीर को कृश करना) (६ वृत्तिपरिसख्यान (भोजन के लिये भ्रमण करने मे घरों वगैरह की सख्या नियत करना)—ये वाह्य तप भी (श्रावक द्वारा) सेवन करने योग्य हैं।

(१) अनशन अर्थात् उपवास—[आत्मा का इन्द्रिय–मन के विषय-वासनाओं से रहित होकर आत्मस्वरूप मे वास करना सो निश्चय उपवास है]। चार प्रकार के आहार का मोक्षार्थ छोडना अर्थात् सयम की सिद्धि, राग के अभाव, ध्यान और स्वाध्याय मे प्रवृत्ति के निमित्त इन्द्रियों का जीतना इहलोक–परलोक सम्बन्धी विपयों की वांछा न करना, मन को आत्मस्वरूप अथवा शास्त्र–स्वाध्याय मे

लगाना, क्लेश उत्पन्न न हो उस प्रकार एक दिन की मर्यादा रूप चार प्रकार आहार का त्याग करना—सो अनशन तप है।

(२) अवमोदर्य—एक-दो-तीन आदि ग्रासों द्वारा-एक ग्रास शेष रहने तक आहार का छोड़ना अर्थात् कीर्ति, माया कपट, मिष्ट भोजन के लोभ रहित अल्प आहार लेना। स्पष्टीकरण—संयम की सिद्धि, निद्रा के अभाव, वात-पित्त-कफ के प्रकोप की प्रशान्ति, सन्तोष, सुख से स्वाध्याय के निमित्त एक ग्रास ग्रहण कर शेष का त्याग करना सो उत्कृष्ट अवमोदर्य और एक ग्रास का त्याग कर ३१ ग्रास पर्यन्त आहार लेना सो जघन्य अवमोदर्य है। बीच का मध्यम है।

(३) विविक्त शय्यासन—जन्तुओं को पीड़ा रहित वस्ती मे सोना बैठना अर्थात् ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यान की सिद्धि के लिये प्राणियों को पीड़ा रहित शून्यागार, गिर, गुफा आदि एकान्त स्थान मे शयन, आसन, ध्यान करना सो विविक्त शय्यासन तप है।

(४) रसत्याग—तेल, दूध मीठा, दही, घी इन पाच रसों मे से एक-दो-तीन-चार या पाचों का छोड़ना अर्थात् इन्द्रियों के दमन, दर्प की हानि, संयम के उपरोध निमित्त घृत-तैलादि रस अथवा खारा-खट्टा-मीठा-कड़ुआ-तीखा-कषायला इन छहों रसों का वा एक-दो आदि का त्याग करना सो रसपरित्याग तप है।

(५) कायक्लेश—अनेक प्रतिमास्थान, मौन, शीतसहिष्णुता, आतप-स्थान, इत्यादि कायक्लेश है अर्थात् जिस प्रकार चित्त मे क्लेश-खेद न उपजे, उस प्रकार अपनी शक्ति के अनुसार साम्यभावपूर्वक प्रतिमायोग धार परिषह सहते हुये आत्मस्वरूप मे लवलीन रहना सो कायक्लेश तप है। इसमे सुख की अभिलाषा कृश होती है। राग का अभाव होता है। कष्ट सहने का अभ्यास होता है और प्रभावना की वृद्धि होती है।

(६) वृत्तिपरिसख्यान—एक वस्तु लेने का या नियमित घरों मे निर्दोष भोजनपात्र लेने का सकल्प करना अथवा भोजन की आशा-तृष्णा को निराश करने के लिये अटपटी मर्यादा लेना और कर्मयोग से सकल्प के माफिक प्राप्त होने पर आहार लेना अर्थात् भिक्षा के लिये अटपटी आखडी करके चित्त के संकल्प को रोकना सो वृत्ति-परिसख्यान तप है।

अन्तरग ६ तप

विनयो वैयावृत्त्य प्रायश्चित्त तथैव चोत्सर्ग ।
स्वाध्यायोऽथ ध्यान भवति निषेव्य तपोऽन्तरगमिति ॥१९९॥

अन्वय —विनय वैयावृत्त्य, प्रायश्चित्त, तथा एव च उत्सर्ग स्वाध्याय., अथ ध्यान इति अन्तरग तप निषेव्य भवति ।

सूत्रार्थ— १) विनय (२) वैयावृत्य (३) प्रायश्चित्त (४) उत्सर्ग (५) स्वाध्याय और (६) ध्यान—इस प्रकार अन्तरग तप भी (श्रावक द्वारा) सेवन करने योग्य है।

(१) विनय—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और उपचार मे परिणामो की विशुद्धता करना सो विनय तप है। इसके चार भेद हैं। (१ सात तत्त्वों को निःशकितत्वादि लक्षणयुक्त श्रद्धा करने वाले के सम्यक्त्व विनय है। (२) ज्ञान के ग्रहण, अभ्यास, स्मरण आदि को करते हुये के बहुमानादि का होना ज्ञान विनय है (३) दर्शन-ज्ञानयुक्त के जो चारित्र के लिये चित्त का रोकना चारित्र विनय है। (४) आचार्यादिकों मे खडा होना, पीछे २ चलना, वन्दनादि करने वाले के औपचारिक विनय है।

(२) वैयावृत्य—जो मुनि, अशुभ कर्म के उदय जन्य उपसर्ग से पीडित हों, उनका दुःख, उपसर्ग–पूजा महिमा लाभ की वाञ्छा रहित होकर–दूर करना, हाथ-पाव दबाना, शरीर की सेवा करना तथा

उपदेश या उपकरण देना सो वैयावृत्य है। इससे गुणानुराग प्रगट होता है और मान कषाय कृश होती है। इसके १० भेद हैं। स्पष्टीकरण—आचार्य[1], उपाध्याय[2], साधु[3], शैक्ष्य[4], ग्लान[5] तपस्वी[6], कुल[7], संघ[8], मनोज्ञ[9], गण[10] के व्याधी आदि आ जाने पर, उनका जो अपनी शक्ति-अनुसार सम्यक् प्रतिकार-वह वैयावृत्य है।

(३) प्रायश्चित्त—प्रमादजनित दोषों को प्रतिक्रमणादि पाठ या तप-व्रतादि द्वारा दूर कर चारित्र शुद्ध करना सो प्रायश्चित्त तप है। इससे व्रतों की शुद्धता, परिणामों की निर्मलता, मानकषाय की मन्दता होती है। इसके ६ भेद हैं। यथा—(१, प्रमाद का गुरु से निवेदन करना आलोचना है। (२) 'मेरा खोटा कृत्य मिथ्या होवें' इत्यादिक रूप से पश्चाताप प्रकट करना प्रतिक्रांति है। (३) किसी पाप को आलोचना तथा प्रतिक्रांति दोनों से शुद्ध करना तदुभय है। (४) अवमोदर्यादि ६ बाह्य तपों द्वारा शुद्धि करना तप है। (५) कायोत्सर्गादि करना व्युत्सर्ग है। (६) अन्न, पान औषधि छोड़ना विवेक है। (७ पुनः दीक्षा देना उपस्थापना है। (८) मासादि के लिये छोड़ना परिहार है। (९) मास पक्ष दिनादि द्वारा दीक्षा का छेदना छेद है।

(४) उत्सर्ग—अन्तरंग तथा बाह्य परिग्रहों से त्यागरूप बुद्धि रखना अर्थात् शरीर सत्काररहित, रोगादि इलाज रहित, शरीर से निरपेक्ष, दुर्जनों के उपसर्ग में मध्यस्थ, देह से निर्ममत्व, स्वरूप में लीन रहना सो व्युत्सर्ग तप है। इससे निःपरिग्रहपना, निर्भयपणा प्रगट होकर मोह क्षीण होता है। इसके दो भेद हैं - (१) क्षेत्रादि बाह्य उपाधि का त्याग बाह्योपाधिव्युत्सर्ग है। (२) क्रोधादिक अंतरंग उपाधि का त्याग अन्तरंगोपाधिव्युत्सर्ग है।

(५) स्वाध्याय—ज्ञान भावना के लिये आलस्य रहित होकर जैन

सिद्धातों का पढना, अभ्यास करना, धर्मोपदेश देना, तत्त्व निर्णय मे प्रवृत्ति करना सो स्वाध्याय तप है। इमस बुद्धि स्फुरायमान होकर परिणाम उज्ज्वल होते, सवेग होता, धर्म की वृद्धि होती है। इसके पाच भेद हैं—(१) पात्र के लिये सुनाना वाचना है। (२) ग्रथ का–पद्य का या तत्त्वार्थ का या दोनों का सशय के दूर करने के लिये अथवा अपने निर्णय को बल देने के लिये दूसरे से प्रश्न करना प्रच्छना है (३) विशुद्ध पाठ फेरना या घोखना आम्नाय है (४) धर्मकथादि का अनुष्ठान धर्मदेशना है। (५) जाने हुये अर्थ का जो मन से अभ्यास किया जाता है वह अनुप्रेक्षा है।

(६) ध्यान—सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की शुद्धिपूर्वक समस्त चिन्ताओ को त्याग, मन्द कषाय सहित धर्मध्यान और अतिमन्द कषाय सहित वा कषाय रहित शुक्लध्यान मे प्रवृत्ति करना, सो ध्यान तप है। इससे मन वशीभूत होकर अनाकुलता की प्राप्ति एव परमानन्द मे मग्नता होती है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है।

ध्यान

उपयोग (चित्तवृत्ति) को अन्य चिन्ताओं से रोककर एक ज्ञेय पर स्थिर करना ध्यान कहाता है। ध्यान का उत्कृष्ट काल उत्तम सहनन के धारक पुरुषों के अन्तर्मुहूर्त कहा है अर्थात् वज्र–ऋषभ–नाराच, वज्र-नाराच, नाराच सहनन के धारक पुरुषों का अधिक से अधिक एक समय कम दो घडी तक एक ज्ञेय पर उपयोग स्थिर रह सकता है। पीछे दूसरे ज्ञेय पर ध्यान चला जाता है। इस प्रकार बदलता हुआ बहुत काल तक भी ध्यान हो सकता है। यह ध्यान अप्रशस्त–प्रशस्त भेद से दो प्रकार का है। आर्त्त रौद्र ये दो ध्यान अप्रशस्त हैं, इनका फल निकृष्ट है, ये ससार परिभ्रमण के कारण नरक–तिर्यञ्च गति के दुःखों के मूल हैं और अनादि काल से स्वय ही ससारी जीवों के बन रहे हैं, इसलिये

इनकी वासना ऐसी दृढ हो रही है कि रोकते रोकते भी उपयोग इनकी तरफ चला जाता है। सम्यग्ज्ञानी पुरुष ही इनसे चित्त को निवृत्त कर सकते हैं। धर्म-शुक्ल ये दो ध्यान प्रशस्त हैं। इनका फल उत्तम है। ये मोक्ष के सुख के मूल हैं, ये ध्यान जीवों के कभी भी नहीं हुये, यदि हुये होते तो फिर ससार भ्रमण न करना पडता। इसलिये इन की वासना न होने से इनमे चित्त का लगाना सहज नहीं, किन्तु बहुत ही कठिन है। अतएव जिस तिस प्रकार प्रयत्न करके इन ध्यानों का अभ्यास बढाना चाहिये और तत्त्व चिंतवन-आत्म चिन्तवन मे चित्त स्थिर करना चाहिये।

आर्त्तध्यान

दु खमय परिणामों का होना सो आर्त्तध्यान है। इसके चार भेद हैं। यथा—(१) इष्टवियोगज आर्त्तध्यान—इष्ट-प्रिय स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि तथा धर्मात्मा पुरुषों के वियोग होने से सक्लेश रूप परिणाम होना (२) अनिष्टसयोगज आर्त्तध्यान—दु खदाई अप्रिय स्त्री, पुत्र, पड़ोसी, पशु आदि तथा पापी दुष्ट पुरुषों के संयोग होने से संक्लेश रूप परिणाम होना (३) पीडा चिन्तवन आर्त्तध्यान—रोग के प्रकोप की पीडा से संक्लेश रूप परिणाम होना, या रोग का अभाव चिन्तवन करना (४) निदानबध आर्त्तध्यान—आगामी काल मे विषय भोगों की वांच्छा रूप सक्लेश परिणाम होना। ये आर्त्तध्यान ससार की परिपाटी से उत्पन्न और ससार के मूलकारण हैं। मुख्यतया तिर्यंचगति के ले जाने वाले हैं। पाचवें गुणस्थान तक चारों और छठे में निदानबध को छोड शेष तीन आर्त्तध्यान होते हैं परन्तु सम्यक्त्व अवस्था मे मन्द होने से तिर्यञ्च गति के कारण नही होते।

रौद्रध्यान

क्रूर (निर्दय) परिणामों का होना सो रौद्रध्यान है। यह चार प्रकार का है यथा—(१) हिंसानन्द—जीवों को अपने तथा पर

के द्वारा वध-पीड़ित-ध्वस-घात होते हुवे हर्ष मानना या पीड़ित करने कराने का चिन्तवन करना (२) मृषानन्द—आप असत्य झूठी कल्पनायें करके तथा दूसरों के द्वारा ऐसा होते हुवे देख-जान कर आनन्द मानना वा असत्य भाषण करने कराने का चिन्तवन करना (३) चौर्यानन्द—चोरी करने कराने का चिन्तवन तथा दूसरों के द्वारा इन कार्यों के होते हुवे आनन्द मानना (४) परिग्रहानन्द – क्रूर चित्त होकर बहुत आरभ, बहुत परिग्रहरूप सकल्प वा चिन्तवन करना या अपने-पराये परिग्रह बढ़ने-बढ़ाने मे आनन्द मानना। ये रौद्रध्यान नरक ले जाने वाले हैं। पचम गुणस्थान तक होते हैं परन्तु सम्यक्त्व अवस्था मे मन्द होने से नरक गति के कारण नही होते।

धर्मध्यान

निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के आंशिक शुद्ध परिणमन के साथ बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक शुभ राग सहित अखण्ड ज्ञानोपयोग को धर्मध्यान कहते हैं। इसमें जितना शुद्ध अश है-वह तो सवर-निर्जरा-मोक्ष का साधक है और जितना शुभ अश है वह पुण्यबध का कारण है। इसके चार भेद हैं (१) आज्ञा विचय—गहन पदार्थों का सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रमाण करके अर्थ अवधारण करना। स्पष्टीकरण—इस धर्मध्यान में जैनसिद्धान्त मे प्रसिद्ध वस्तु स्वरूप को, सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा की प्रधानता से यथासभव परीक्षापूर्वक चिन्तवन करना और सूक्ष्म परमाणु आदि, अन्तरित राम-रावणादि, दूरवर्ती मेरुपर्वतादि, ऐसे छद्मस्थ के प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों के अगोचर पदार्थों को सर्वज्ञ वीतराग की आज्ञा-प्रमाण ही सिद्ध मानकर तद्रूप चिन्तवन करना (२) अपायविचय—ये लोक उन्मार्ग से सन्मार्ग को कैसे प्राप्त करें ऐसा विचार करना अथवा कर्मों का नाश, मोक्ष की प्राप्ति किन उपायो से हो, इस प्रकार आस्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष आदि तत्त्वों का चिन्तवन करना (३) विपाक विचय—द्रव्यादि की प्राप्ति मे कारण—कर्म के फल का—विचार करना

अथवा द्रव्य क्षेत्र काल भाव के निमित्त से अष्ट कर्मों के विपाक द्वारा आत्मा की क्या-क्या सुख दु खादि रूप अवस्था होती है, उसका चिन्तवन करना (४) सस्थानविचय—त्रैलोकसार शास्त्रानुसार लोक के आकार का और लोक के स्वभाव का विचार करना अथवा लोक तथा उसके ऊर्ध्व-मध्य-तिर्यक् लोक सम्बन्धी विभागों तथा उसमे स्थित पदार्थों का, पचपरमेष्ठी का, अपने आत्मा का चिन्तवन करता हुवा, उनके स्वरूप मे उपयोग स्थिर करना। इसके पिंडस्थ-पदस्थ रूपस्थ-रूपातीत चार भेद हैं जिनका स्वरूप आगम से जानना। यह धर्मध्यान चौथे से सातवें तक अर्थात् अव्रती से मुनि तक ज्ञानियो के ही होता है। चौथे से क्रम से बढ़ता हुवा सातवें मे—अप्रमत्त अवस्था मे पूर्ण विकास को प्राप्त होता है।

शुक्लध्यान

जो ध्यान, क्रिया रहित, इन्द्रियों से अतीत, ध्यान की धारणा से रहित, अर्थात् मैं ध्यान करू या ध्यान कर रहा हू—ऐसे विकल्प रहित होता है। जिस मे चित्तवृत्ति अपने स्वरूप के सन्मुख होती है। इसके चार भेद हैं, उनमे प्रथम पाया तीन शुभ संहननों मे और शेप तीन पाये वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन मे ही होते हैं। आदि के २ भेद तो अंगपूर्व के पाठी छद्मस्थों के तथा शेप दो केवलियों के होते हैं। ये चारों शुद्धोपयोगरूप हैं। इसके भेदों का स्वरूप आगम से जान लेना। चरणानुयोग शास्त्र में उनका कोई खास उपयोग न होने के कारण नहीं दिये हैं। इसमे जो शुद्ध अश है वह तो संवर निर्जरा मोक्ष का कारण है और जो अबुद्धिपूर्वक राग है वह पुण्यबंध का कारण है। इसका प्रारम्भ आठवें से होता है।

तपो पर प्रश्नोत्तर प्रमाण सूत्र सं०

प्रश्न ८८—तप किसे कहते हैं ?

उत्तर—स्वरूपविश्रान्त निस्तरग चैतन्य प्रतपन तप है। (अर्थात् निर्विकल्प आत्मस्थिरता तप है)। (प्रवचनसार १४)

प्रश्न ८६—तप के कितने भेद हैं ?

उत्तर—दो—(१) बाह्य तप (२) अन्तरग तप।

प्रश्न ९०—बाह्य तप किसे कहते हैं।

उत्तर—जिस प्रकार इन्द्रिया प्रबल होकर मन को चचल न होने दें—उस प्रकार चारित्र के अनुकूल कायक्लेशादि का साधना बाह्य तप है।

प्रश्न ९१—अन्तरग तप किसे कहते है ?

उत्तर—अविपाक निर्जरा के निमित्त अन्तरग मे विषय कषायों से निवृत्ति करना अर्थात् स्वरूप में स्थिरता करना अन्तरग तप है।

प्रश्न ९२—तपों के पालने से क्या लाभ है ?

उत्तर—तपों को भले प्रकार भाने मे स्नेह (राग–द्वेष–मोह) का नाश होने से तथा योग का निरोध होने से सवर निर्जरा होती है। तपो द्वारा श्रावक अहिंसा व्रत अर्थात् शुद्ध चारित्र की साधना करते हैं यही तपों के पालने से लाभ है।

प्रश्न ९३—बाह्य तप कितने हैं और क्या नाम है ?

उत्तर—छह हैं (१) अनशन (२) अवमोदर्य (३) वृत्ति परिसख्यान (४) रसपरित्याग (५) विविक्तशय्यासन (६) कायक्लेश। (१९८)

प्रश्न ९४—अन्तरग तप कितने हैं और क्या नाम है?

उत्तर—छह हैं—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय (३) वैयावृत्त्य (४) स्वाध्याय (५) व्युत्सर्ग (६) ध्यान। (१९९)

नोट—इन तपो के लक्षणो पर, अवान्तर भेद और उनके

लक्षणो पर प्रश्नोत्तर चरणानुयोग का ग्रन्थ होने से नही लिखे हैं। मोक्ष शास्त्र जी की टीका मे लिखेंगे।

तपो का निरूपण समाप्त हुआ।

श्रावक को कुछ मुनिधर्म के अभ्यास करने की प्रेरणा

(सूत्र २०० से २१० तक ११)

जिनपुंगवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥२००॥

अन्वय—जिनपुंगवप्रवचने मुनीश्वराणां यत् आचरणं उक्त एतत् अपि, निजां पदवीं सुनिरूप्य च निजां शक्ति सुनिरूप्य, निषेव्य।

सूत्रार्थ—जिनेश्वर के सिद्धांत मे मुनियों का जो आचरण कहा गया है, वह आचरण भी (गृहस्थों द्वारा) अपनी पदवी को भले प्रकार विचार करके और अपनी शक्ति को भी भले प्रकार जाच करके सेवन करने योग्य है।

भावार्थ—श्रावकों के चारित्र का प्रकरण चला आ रहा है। पहले पाच अणुव्रतों और ८ शीलों का अतीचार सहित निरूपण किया। फिर श्रावकों के चारित्र के अन्तर्भूत तपों का वर्णन किया। अब उन्हे समझाते हैं कि देखो भाई! श्रावक धर्म की सीमा तो पूरी हो चुकी पर क्योंकि यह धर्म एकदेशचारित्र रूप है। शुभरागमिश्रित है। अत. इससे तुम्हें पूर्ण अतीन्द्रिय सुख रूप मोक्ष की प्राप्ति न होगी किन्तु स्वर्ग जाना पडेगा और वहां विषय सुख की आग मे जलना पडेगा। आत्मा का अतीन्द्रिय सुख रूप मोक्ष तो मुनि धर्म से ही प्राप्त होगा और आखिर तुम्हें एक दिन मुनि तो बनना ही पडेगा। जब तक तुम्हे कुछ

अटक है और मुनिव्रत नहीं ले सकते तब तक भाई ! लक्ष तो मुनि बनने का रक्खो और इतना ही नहीं—कुछ मुनिधर्म को अभ्यास रूप से पालन भी किया करो। इसलिये अब हम तुम्हें कुछ मुनिधर्म का उपदेश देते हैं पर उसके पालन मे दो बातों का ध्यान रखना—पहला अपनी पदवी (Position) का, दूसरा अपनी शक्ति (वीर्य-पुरुषार्थ) का—

(१) निजा पदवी सुनिरूप्य—का ऐसा भाव है कि एक वह श्रावक है जो अभी पहली प्रतिमा मे है—जो अभी श्रावक के व्रतों को भी अभ्यास रूप से पाल रहा है और एक वह भी श्रावक है जो सातवीं या दसवीं या ग्यारहवीं प्रतिमाधारी है। इसलिये जिस पदवी मे हो—उस पदवी के अनुसार जितना मुनिधर्म साधना शोभा देता हो—उतना साधे। अपनी पदवी के विरुद्ध तो जगत मे कोई भी बात अच्छी नहीं लगती।

(२) निजा शक्ति सुनिरूप्य—का ऐसा भाव है कि मुनिधर्म आत्मा की पूर्ण स्थिरता रूप है। उसमे आत्मा का बडा भारी वीर्य खर्च होता है। उपसर्ग बहुत सहन करने पडते हैं। परिणामों को राग द्वेष से बचाकर समता धारण की जाती है। इसलिये उसके अभ्यास मे बडी भारी धीर-वीरता की आवश्यकता है। किसी का परिणाम एक उपवास में भी कठिनता से स्थित रहता है और किसी का तीन २ मे भी नहीं बिगड़ता। कोई थोड़े से उपसर्ग मे भी समता को नहीं रख सकता। कोई महान् उपसर्ग मे भी नहीं डिगता। क्योंकि वह मुनिधर्म पूर्ण रूप है। अत श्रावकों को समझाते हैं कि उसे हठपूर्वक मत पालना। हठपूर्वक पाला हुआ तो उलटा आकुलता का कारण हो जावेगा—किन्तु अपनी शक्ति को भली भान्ति विचार कर उतनी साधना करना जितनी मे निराकुलता बनी रहे। पर अभ्यास जरूर करना क्योंकि मुनि धर्म बिना आत्मा की मुक्ति नहीं होगी—ऐसा यहां गुरुदेव का आशय है। यह ध्यान रहे कि मुनि आचरण को पूर्णरूप से तो मुनि ही पालते हैं।

श्रावक को तो कुछ अभ्यास रूप की आज्ञा है जैसे सुदर्शन सेठ पाला करते थे।

छह आवश्यक

इदमावश्यकपट्क समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम् ।
प्रत्याख्यान वपुषो व्युत्सगश्चेति कतव्यम् ॥२०१॥

अन्वय.—समतास्तवनवन्दनाप्रतिक्रमण प्रत्याख्यान च वपुष व्युत्सर्ग इति इद आवश्यकपट्क कर्तव्या।

सूत्रार्थ—(१) समता (२) स्तवन (३) वन्दना (४) प्रतिक्रमण (५) प्रत्याख्यान और (६) शरीर का ममत्वत्याग—इस प्रकार यह छह आवश्यक समुदाय भी (श्रावकों द्वारा) करने योग्य है।

भावार्थ—जो प्रतिदिन नियम से पाले जाते हैं—उन्हें आवश्यक कहते हैं। मुनिगण तो इन्हें नियम से नित्य पालते ही हैं किन्तु श्रावकों को भी एकदेशरूप से अपनी पदवी और शक्ति अनुसार प्रतिदिन जरूर पालना चाहिये।

(१) समता अर्थात् सामायिक—भेद ज्ञानपूर्वक समस्त सासारिक पदार्थो को अपनी आत्मा से पृथक् जान—आत्म स्वभाव मे स्थिरता-पूर्वक जीवन—मरण, लाभ—अलाभ, सयोग—वियोग, शत्रु—मित्र सुख—दुःख मे समान भाव रखना सामायिक है। मुनि समतारूप सामायिक चारित्र के धारक होते हुये भी नित्य त्रिकाल सामायिक करते हैं। उसका श्रावक को भी अभ्यास करना चाहिये।

(२) स्वतन या स्तुति—तीर्थंकरों के गुणो का कीर्तन करना।

(३) वन्दना—चौबीस तीर्थंकरों मे से एक तीर्थंकर की वा पचपरमेष्ठी मे एक की मुख्यता करके स्तुति करना तथा अर्हन्त प्रतिमा, सिद्ध-प्रतिमा, तपोगुरु, श्रुतगुरु, दीक्षागुरु, दीक्षाधिक गुरु को प्रणाम तथा उनकी मन वचन काय की शुद्धतापूर्वक स्तुति करना।

(४) प्रतिक्रमण (५) प्रत्याख्यान—आहार, शरीर, शयन, आसन, गमनागमन और चित्त के व्यापार से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के आश्रय अतीतकाल मे लगे हुये व्रत-सम्बन्धी अपराधो का शोधना, निन्दा-गर्हायुक्त अपने अशुभ योगों से निवृत्त होना अर्थात् अशुभ परिणाम पूर्वक किये हुवे दोषों का परित्याग करना सो प्रतिक्रमण है। वह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिक, ईर्यापथिक, उत्तमार्थ भेद से सात प्रकार का होता है। इसी भाति वर्तमान मे लगे हुये दोषों का निराकरण सो प्रायश्चित्त तथा भविष्य मे ऐसे आराधन करने की प्रतिज्ञा सो प्रत्याख्यान कहाता है।

(६) वपुष व्युत्सर्ग अर्थात् कायोत्सर्ग—शरीर से ममत्व छोड खडे होकर या बैठकर शुद्धात्मचिन्तवन करना, सम्यक्त्वादि रत्नत्रय गुणो की भावना सहित होकर शरीर से निर्ममत्व होना।

३ गुप्ति

सम्यग्दण्डो वपुष सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य।
मनस सम्यग्दण्डो गुप्तीना त्रितयमवगम्यम् ॥२०२॥

अन्वय —वपुष सम्यग्दण्ड तथा वचनस्य सम्यग्दण्ड' च मनस सम्यग्दण्ड इय गुप्तीना त्रितय अवगम्य।

सूत्रार्थ—शरीर का भले प्रकार निग्रह करना तथा वचन का भले प्रकार निग्रह करना और मन का भले प्रकार निग्रह करना—ये तीन गुप्तियो का समुदाय भी (श्रावकों को) जानने योग्य है।

भावार्थ—जिसके द्वारा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र गोपिये अर्थात् रक्षित कीजिये, सो सम्यक्गुप्ति कहाती है। जैसे कोट द्वारा नगर की रक्षा होती है, उसी प्रकार सम्यक् गुप्ति द्वारा मिथ्यात्व, अज्ञान, असयम, आदि शुभाशुभ भावों से आत्मा की रक्षा की जाती है। गुप्तियो मे प्रवर्तमान पुरुष के योगो का निग्रह होने पर उनके

निमित्त से होने वाले आस्रव का अभाव होने से-तुरन्त संवर होता है। ये तीन हैं .

(१) सम्यक् मनोगुप्ति—कलुषता, मोह, संज्ञा, राग, द्वेष इत्यादिक अशुभ भावों के परिहार को व्यवहार नय से मनोगुप्ति कहते हैं और मन में से रागादि की निवृत्ति को निश्चय मनोगुप्ति कहते हैं।

(२) सम्यक् वचनगुप्ति—पाप के हेतुभूत ऐसे स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भक्तकथा इत्यादिरूप वचनों के परिहार अथवा असत्यादि की निवृत्तिवाले वचन व्यवहार वचन गुप्ति है और मौन वह निश्चय वचन गुप्ति है।

(३) सम्यक् कायगुप्ति—बन्धन, छेदन, मारन, संकोचन तथा विस्तारन इत्यादि हिंसाजनक काय क्रियाओं की निवृत्ति व्यवहार कायगुप्ति है और काय क्रियाओं की निवृत्तिरूप कायोत्सर्ग निश्चय कायगुप्ति है।

५ समिति

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक्।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपो व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः ॥२०३॥

अन्वय—सम्यग्गमनागमन, सम्यग्भाषा, सम्यक्एषणा, सम्यग्ग्रहनिक्षेप तथा सम्यग्व्युत्सर्ग इति समिति.।

सूत्रार्थ—(१) सम्यक् गमनागमन (चलना) (२) सम्यक् भाषा (बोलना) (३) सम्यक् भोजन (शुद्ध आहार) (४) सम्यक् उठाना धरना और (५) सम्यक् व्युत्सर्ग (मलमूत्रादि त्याग)—इस प्रकार समिति है।

भावार्थ—सम् अर्थात् भले प्रकार, सम्यक् अर्थात् शास्त्रोक्त विधि से, 'इति' कहिये गमनादि में प्रवृत्ति-सो सम्यक् समिति है। इस में समीचीन चेष्टा सहित आचरण होता है। इसलिये ये व्रतों की रक्षक और पोषक हैं। इस प्रकार समितिपूर्वक प्रवर्तमान के असंयम के कारण जो कर्म आते हैं-उनका संवर हो जाता है।

(१) सम्यक् ईर्यासमिति—मार्ग, प्रकाश और उपयोग का अवलम्बन लेकर सूत्रमार्ग से शुद्धतापूर्वक गमन करने वाले के ईर्यासमिति होती है। स्पष्टीकरण—जो मार्ग मनुष्य–पशु आदि के गमनागमन से खुद गया हो, सूर्य के आताप से तप्त हो गया हो, हल-वखर आदि से जोता गया हो तथा मसान भूमि हो, ऐसे प्राशुक मार्ग से, प्रमाद रहित होकर, दिन के प्रकाश मे चार हाथ प्रमाण भली भाति निरखते हुये प्राणियों को न विराधते हुये, शास्त्रश्रवण, तीर्थ यात्रा, गुरु–दर्शन आदि धर्म कार्यों तथा आहार–विहार–निहारादि आवश्यक कार्यों के निमित्त गमन करना सो ईर्यासमिति कहाती हैं। इसमे गमन करते समय भूमि को भली भाति अवलोकन करना चाहिये तथा पर्वत, वन, वृक्ष, नगर, बाजार, तिर्यंच, मनुष्यादि को अवलोकन करते हुये नहीं चलना चाहिये।

(२) सम्यक् भाषा समिति—झूठ आदि से रहित, सत्य और सत्या-सत्य इन दो प्रकार के वचनों को सूत्रमार्ग से बोलने वाले के भाषा समिति होती है अथवा पैशून्य हास्य, कर्कश, परनिंदा, आत्मप्रशसा रूप वचनों को छोड कर जो स्वपरहितरूप वचनों का बोलना है, वह भाषा समिति है। स्पष्टीकरण—सर्व प्राणियो के हितकारी, सुख उपजाने वाले, प्रमाणिक, शास्त्रोक्त, विकथा वर्जित वचन बोलना, लौकिक, कर्कश, हास्यरूप, परनिन्दक, स्वात्मप्रशसक, प्राणियों को सक्लेश–दु ख–हानि उपजाने वाले वचन न बोलना-देश-काल के योग्यायोग्य विचार किये विना नहीं बोलना चाहिये तथा विना पूछे और विना पूरा सुने–जाने नहीं बोलना चाहिये।

(३) सम्यक् एषणा समिति—भोजन को, परिग्रह को, शय्या को–उद्गम, उत्पादन आदि दोषों रहित–शोधन करने वाले के शुद्ध एषणा समिति होती है। स्पष्टीकरण—आहार ग्रहण की प्रवृत्ति को एषणा कहते हैं। सो ४६ दोष, ३२ अन्तराय, १४ मल दोष टालकर उत्तम त्रिकुल अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के घर तप

चारित्र बढाने के लिये शीत-उष्ण, खट्टे-मीठे मे समभाव सहित, शरीरपुष्टि और सुन्दरता के प्रयोजन रहित मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना नव कोटि से शुद्ध, अपने निमित्त न किया हुआ ऐसा अनुद्दिष्ट आहार लेना, सो एषणा समिति कहाती है। अतिरस को लम्पटता से प्रमाणाधिक भोजन नहीं करना चाहिये।

(४) सम्यक् ग्रहनिक्षेप समिति—ग्रहण त्याग मे जल्दी, बिना देखे, बिना झाडे, आदि दोषों का छोडना आदाननिक्षेपण समिति मानी गई है अथवा पुस्तक, कमण्डल वगैरह लेने छोडने सम्बन्धी प्रयत्न परिणाम वह आदाननिक्षेपणसमिति है। स्पष्टीकरण—रक्खी हुई वस्तु उठाने को आदान और ग्रहण की हुई वस्तु रखने को निक्षेपण कहते हैं। जिससे किसी जीव को बाधा न पहुचे, उस प्रकार ज्ञान के उपकरण शास्त्र, सयम के उपकरण पीछी, शौच के उपकरण कमण्डल तथा सस्तरादि को यत्नपूर्वक उठाना, रखना चाहिये। शरीर तथा उपकरणों को शीघ्रता से उठाना-धरना नहीं चाहिये। अच्छी तरह नेत्रों से देखना चाहिये और मयूर पिच्छिका से अच्छी तरह प्रतिलेखन करना चाहिये। उतावली से प्रतिलेखन नहीं करना चाहिये।

(५) सम्यक् व्युत्सर्ग समिति—जीव-जन्तु रहित तथा एकात (जहां असयमी पुरुषों का प्रचार न हो), अचित्त (हरितकायादि रहित), दूर, गुप्त (छिपे हुये), विशाल (बिल, छिद्र रहित), अविरोध (जहा रोकटोक न हो) ऐसे, मलमूत्र रहित, निर्दोष स्थान मे मल-मूत्र-कफादि क्षेपण करना—सो व्युत्सर्ग (छोडना) या प्रतिष्ठापन समिति कहाती है। अशुद्ध तथा बिना-शोधी भूमि मे मल-मूत्र-कफादि क्षेपण नहीं करना चाहिये।

१० धर्म

धर्म सेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम्।
आकिंचन्य ब्रह्म त्यागश्च तपश्च सयमश्चेति ॥२०४॥

अन्वय—क्षान्ति, मृदुत्व, ऋजुता, शौच, अथ सत्य च आकिंचन्य, ब्रह्म च त्याग च तप. च संयम इति धर्म सेव्य ।

सूत्रार्थ—(१) क्षान्ति–क्षमा (२) मृदुत्व–मार्दव (३) ऋजुत्व–आर्जव (४) शौच (५) सत्य (६) आकिंचन्य (७) ब्रह्मचर्य (८) त्याग (९) तप (१०) संयम—यह [दस] धर्म [श्रावकों द्वारा] सेवन करने योग्य हैं ।

भावार्थ—आत्मस्वभावरूप वर्तन करना धर्म है अथवा जिसको आत्मा स्वभावरूप से धारण किये हुये है–वह धर्म है । क्योंकि इन धर्मों मे प्रवर्तमान पुरुष के उसके विपक्ष के कारण से होने वाला. कर्म का आस्रव नही होता–अत संवर होता है ।

(१) उत्तम क्षमा—गाली, पीटना आदि क्रोध की उत्पत्ति के निमित्तो के अत्यन्त संभव होने पर भी कलुषता का न करना उत्तम क्षमा धर्म है ।

(२) उत्तम मार्दव—दूसरों के द्वारा अपमान किये जाने पर भी अभिमान का अभाव अथवा जाति आदिक मान के आठ भेदों का आवेश न होना उत्तम मार्दव धर्म माना गया है ।

(३) उत्तम आर्जव—मन–वचन–काय योगों का टेढ़ापन न होना उत्तम आर्जव धर्म है ।

(४) उत्तम शौच—उपभोग, परिभोग, जीवन और इन्द्रियों के लोभ की निवृत्ति उत्तम शौच धर्म है ।

(५) उत्तम सत्य—धर्म की वृद्धि के लिये ज्ञान और चारित्र की शिक्षादि देना वह उत्तम सत्य धर्म है ।

(६) उत्तम आकिंचन्य—प्राप्त शरीरादि पदार्थों मे "यह मेरा है" इस प्रकार के भाव की निवृत्ति उत्तम आकिंचन्य धर्म है ।

(७) उत्तम ब्रह्मचर्य—स्त्री भोग का, शय्यादि का, भोगे हुये की भोग

की स्मृति का और उनकी कथा के सुनने का त्याग उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है।

(८) उत्तम त्याग—धर्म शास्त्रादि का बाँटना उत्तम त्याग धर्म है।

(९) उत्तम तप—कर्मों के क्षय के लिये जो तपा जाता है वह उत्कृष्ट तप धर्म माना गया है।

(१०) उत्तम संयम—समिति में प्रवर्तमान के जो इन्द्रिय और इन्द्रिय-विषयों में वैराग्य है तथा प्राणियों की हिंसा का अभाव है, वह उत्तम संयम धर्म है।

१२ भावनायें

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताशौचमास्रवो जन्म।
लोकवृषबोधिसंवरनिर्जरा सततमनुप्रेक्ष्या ॥२०५॥

अन्वय—अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यता, अशौच, आस्रव जन्म, लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सतत अनुप्रेक्ष्या।

मूलार्थ—(१) अनित्य (२) अशरण (३) एकत्व (४) अन्यत्व (५) अशुचि (६) आस्रव (७) संसार (८) लोक (९) धर्म (१०) बोधि (११) संवर (१२) निर्जरा—ये १२ भावना (श्रावकों द्वारा) निरन्तर भाने योग्य हैं।

भावार्थ—जो वैराग्य उत्पन्न करने को माता के समान बारम्बार चिन्तवन करने हों—वे अनुप्रेक्षा या भावना कहलाती हैं। इन भावनाओं को भाने वाले गृहस्थ के धर्म का महान् उद्यम जागृत हो जाता है। अत. निष्प्रमादी उस गृहस्थ के महान् संवर होता है। इनका सर्वोत्कृष्ट वर्णन श्रीकुन्दकुन्द आचार्यकृत बारह भावना नामक ग्रंथ में है। दूसरे नम्बर पर श्रीकार्तिकेय-अनुप्रेक्षा ग्रंथ में है। ये बारह भावनायें गृहस्थ को निरन्तर भानी चाहिये।

(१) अनित्य—इस मनुष्य पर्याय को धिक्कार है कि जिसे उत्पन्न होते

ही अनित्यता तो पहले ही गोद मे ले लेती है। पृथ्वी और माता तो पीछे ही गोद मे लेती है।

(२) अशरण—घोर मृत्यु रूपी व्याघ्र द्वारा पकडे हुये जीव को देवता भी शरण नहीं है, फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या है।

(३) एकत्व—किसकी सतान, किसका पिता, किसकी माता, किसकी स्त्री। इस दुस्तर ससार समुद्र मे यह जीव अकेला ही भ्रमता है।

(४) अन्यत्व—सचेतन जीव अन्य है, अचेतन शरीर अन्य है, किन्तु खेद है कि मनुष्य फिर भी इन दोनों मे नानात्व नहीं मानते हैं।

(५) अशुचि—नाना कीडों और सैकडों जन्तुओं से पूर्ण, दुर्गन्धित, मल से भरपूर, शरीर मे अपने लिये और दूसरे के लिये क्या पवित्रता ? कुछ भी नहीं।

(६) आस्रव—जिस प्रकार जल से पूर्ण समुद्र मे छिद्र होने से जहाज डूब जाता है, उसी प्रकार कर्मरूपी जल से भरे हुवे ससार सागर मे योग रूपी छिद्रों द्वारा होने वाले आस्रवों से जहाजवत् यह जीव ससार समुद्र मे डूब जाता है।

(७) ससार—खेद है कि चारगतिरूपी चाक पर मिट्टी की तरह आत्मा को रख कर यह कर्म रूपी कुम्हार घुमाता है।

(८) लोक—लोकमार्ग मे नित्य भ्रमते हुये जीव के द्वारा नाना घरों की तरह कौन से कुल नहीं आश्रय किये गये ?

(९) धर्म—ससाररूपी समुद्र मे डूबने वालों के लिये यह उत्तम क्षम आदि लक्षण रूप धर्म ही अवलम्बनस्तम्भ जिनेन्द्रो द्वारा कहा गया है।

(१०) बोधिदुर्लभ—खेद है कि ससार सागर मे कल्याणों की परम्पर रूप मोक्ष चढ़ने की पैडी (सीढ़ी) रूप बोधि जीव के महा दुर्लभ है।

(११) संवर—किवाड़ों की तरह गुप्तियों द्वारा योगद्वारों को बन्द करते हुये जीव, आते हुये उत्कट कर्मों द्वारा नहीं बांधे जाते हैं, वे धन्य हैं।

(१२) निर्जरा—जिस प्रकार बुलाव के द्वारा रज दूर की जाती है, उसी प्रकार तप (शुद्धि) द्वारा पूर्व संचित कर्म निर्जीर्ण किये जाते हैं।

२२ परीषहजय

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनारतिरलाभः ।
दंशो मशकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमङ्गमलम् ॥२०६॥

स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा ।
सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्या वधो निषद्या स्त्री ॥२०७॥

द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहाः सततम् ।
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन ॥२०८॥

अन्वय.—क्षुत् तृष्णा, हिमं उष्णं नग्नत्वं, याचना अरतिः अलाभः, मशकादीनां दंशः आक्रोशः व्याधिदुःखं, अङ्गमलं, तृणादीनां स्पर्शः, अज्ञानं, अदर्शनं, तथा प्रज्ञा सत्कारपुरस्कारः शय्या, चर्या, वधः, निषद्या, च स्त्री एते द्वाविंशतिः परीषहाः अपि संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्त-भीतेन सततं परिषोढव्याः।

सूत्रार्थ—(१) क्षुत्-क्षुधा-भूख (२) तृष्णा-तृषा-प्यास (३) हिम-शीत-सरदी (४) उष्ण-गर्मी (५) नग्नपना (६) याचना (७) अरति (८) अलाभ (९) मच्छरादि का काटना-दंशमशक (१०) आक्रोश-गाली (११) रोग जनित दुःख (१२) शरीर मल (१३) तृणादि का स्पर्श-तृणस्पर्श (१४) अज्ञान (१५) अदर्शन (१६) प्रज्ञा (१७) सत्कारपुरस्कार (१८) शय्या (१९) चर्या (२०) वध (२१) निषद्या-बैठना (२२) स्त्री—ये बाईस परिषह भी संक्लेशरहित-

चित्तवाले श्रावक द्वारा, कभी सक्लेश का निमित्त बनने पर भय न हो, इस कारण से निरन्तर ही सहन करने योग्य हैं।

भावार्थ—कभी जीवन मे अकस्मात् ही कोई दु:ख का निमित्त आ बनता है, तो जीव घबराकर चारित्र से डिग जाता है। इसलिये यदि इन परीषहों के सहसा जीतने का अभ्यास रक्खेगा तो फिर कभी भी आपत्ति के समय चारित्र से न डिग सकेगा। अत. चारित्र पालने मे धीरवीर श्रावक द्वारा ये २२ परिषह भी जीतते रहना चाहिये और उसे इनके जीतने मे कभी अपने मन मे सक्लेश नहीं लाना चाहिये। यदि सक्लेश हो गया तो सवर निर्जरा की अपेक्षा उलटा बन्ध होगा। इनसे सवर का विधान इस प्रकार है कि उन परीषहो के आने पर जो राग द्वेष होता और उससे बध होता। असक्लेशचित्तपूर्वक इन्हे सहने मे आस्रव आदि का निरोध होने से सवर होता है। इनका उत्कृष्ट वर्णन श्रीसर्वार्थसिद्धि में है।

बाईस परीषहजय—असातावेदनीयादि कर्म जनित अनेक दु:खों के कारण प्राप्त होने पर भी खिन्न न होना तथा उन्हें पूर्वसचित कर्मों का फल जान निर्जरा के निमित्त समता भावपूर्वक सहना सो परिषहजय है। ये २२ भेद रूप हैं जैसे—(१) क्षुधा परीषह—भूख की वेदना को शान्तिपूर्वक खेदरहित सहन करना (२) तृषा परीषह—प्यास की वेदना को शातिपूर्वक खेद रहित सहना (३) शीत परीषह–शीत की वेदना को शाति पूर्वक खेद रहित सहना (४) उष्ण परीषह—गर्मी की बाधा को शान्तिपूर्वक खेद रहित सहना (५) दश–मशक परीषह—डास (दश) मच्छर (मशक) आदि अनेक जीव जन्तुओं जनित दु:खों को शान्ति पूर्वक खेद रहित सहना (६) नग्न परीषह—काम इन्द्रिय को वश करना और वस्त्र के सर्वथा त्याग करने से उत्पन्न हुई नग्न–रूप लोक लाज को जीतना (७) अरति परीषह—द्वेष के कारण आने पर खेद रहित शान्तचित्त रहना (८) स्त्री परीषह—स्त्रियों मे या

काम विकार में चित्त नहीं जाने देना (६) चर्या परीषह—ईर्यापथ शोधने अर्थात् चार हाथ प्रमाण भूमि को निर्जन्तु 'देखते हुये पाव' पैदल गमन करना और पैदल चलते खेद न मानना (१०) निषद्या परीषह—उपसर्ग के कारण आने पर खेद न मानना तथा उपसर्ग के दूर न होने तक वहा से नहीं हटना, वहीं संयम रूप स्थिर रहना (११) शयन परीषह—रात्रि को कठोर, कंकरीली भूमि पर खेद न मानते हुये एक आसन से अल्प निद्रा लेना (१२) आक्रोश परीषह—क्रोध के कारण आने पर या वचन सुनने पर क्षमा तथा शान्ति ग्रहण करना (१३) वध-बंधन परीषह—कोई आपको मारे अथवा बांधे तो खेद न मानते हुये शान्ति पूर्वक सहन करना (१४) याचना परीषह—औषध-भोजन-पान आदि किसी से नहीं मांगना (१५) अलाभ परीषह—भोजनादिक का अलाभ होते हुये शान्तभाव धारण करना—खेद न मानना (१६) रोग परीषह—शरीर में किसी भी प्रकार का रोग आने पर कायर न होना, खेद न मानना, शान्त भाव पूर्वक सहना (१७) तृणस्पर्श परीषह—पाव में कठिन ककरों या नुकीले तृणों के चुभने पर भी उसकी वेदना को खेद रहित, शान्त भाव सहित सहना तथा पाव मे कांटा या शरीर के किसी अंग मे फांस आदि लग जाय तो अपने हाथ से न निकालना और तज्जनित वेदना को शान्तभाव पूर्वक सहन करना। यदि कोई अपनी बिना प्रेरणा के निकाल डाले तो हर्ष नहीं मानना (१८) मल परीषह—शरीर पर धूल आदि लगने से उत्पन्न हुआ जो ग्लानि का कारण मल-पसेव आदि, उसे दूर करने को स्नानादि सस्कार नहीं करना, धूल नहीं छुडाना, शरीर नहीं पोंछना न उसके कारण चित्त में खेदित होना (यहा पर मल-मूत्र त्याग सम्बन्धी अपवित्रता दूर करने का निषेध न जानना) (१९) सत्कार-पुरस्कार परीषह—आप आदर सत्कार के योग्य होते हुये भी कोई आदर सत्कार न करे तथा निन्दा करे तो मन में खिन्न न होना (२०) प्रज्ञा परीषह—विशेष ज्ञान होते हुये भी उसका अभिमान न करना (२१) अज्ञान परीषह—बहुत तपश्चरणादि

करते हुये भी आपको ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती तथा अन्य को थोड़े तपश्चरणादि मे ज्ञान की प्राप्ति होती खेद नहीं करना (२२) अदर्शन परीषह—ऐसा सुना है तथा शास्त्रों मे भी कहा हुआ है कि तप के बल से अनेक ऋद्धिया उत्पन्न होती हैं, मुझे दीर्घकाल कठिन २ तप करते हो गया परन्तु अभी तक कोई ऋद्धि उत्पन्न नहीं हुई सो यह उपर्युक्त वार्ता कदाचित् असत्य तो नहीं है ? ऐसा सशय न करना।

भूमिका—यहा तक श्रावकों को–मुनिधर्म को अभ्यास रूप से पालने की शिक्षा दी। इस प्रकार श्रावकों के चारित्र का प्रकरण जो सूत्र ३७ से प्रारम्भ किया था–उसको यहाँ लाकर समाप्त किया। इतना पालने पर भी यह एकदेश चारित्र ही है क्योंकि श्रावकधर्म रूप है। मुनिधर्म न होने से सकल चारित्र नहीं है। अब इस विकल रत्नत्रय का फल परम्परा मोक्ष है–यह दिखलाते हुये विषय को सकोचते हैं—

उपसहार

इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमय विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिश निरत्यया मुक्तिमभिलषिता ॥२०९॥

अन्वय·—इति एतत् विकल अपि रत्नत्रय निरत्यया मुक्ति अभिलषिता गृहस्थेन अनिश प्रतिसमय परिपालनीय।

सूत्रार्थ—इस प्रकार यह (पूर्वोक्त) एकदेश भी रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) अविनाशी मुक्ति को चाहने वाले गृहस्थ के द्वारा निरन्तर हर समय सब प्रकार से पालन करने योग्य है।

भावार्थ—सूत्र २१ से ३० तक सम्यग्दर्शन का साष्टाग निरूपण किया। सूत्र ३१ से ३६ तक सम्यग्ज्ञान का साष्टाग निरूपण किया। सूत्र ३७ से यहा तक अर्थात् २०८ तक एकदेश सम्यक्चारित्र का निरूपण किया जिसमे पहले ५ अणुव्रत, फिर ८ शील, फिर उनके ७० अतीचार, फिर तप और फिर कुछ अभ्यास रूप से मुनिधर्म का निरूपण किया। इस प्रकार पूरे श्रावक धर्म का अर्थात् विकल रत्नत्रय

का निरूपण करके, अब उपसंहार रूप से आचार्य महाराज यह घोषणा करते हैं कि जिस किसी गृहस्थ को अविनाशी अतीन्द्रिय सुख रूप मोक्ष की इच्छा हो, उसे पूर्वोक्त रत्नत्रय को यथाशक्ति पुरुषार्थ को बल देकर निरन्तर पालना चाहिये। इसी में जीव का हित है। इस प्रकार पुरुष की सिद्धि का उपाय जो रत्नत्रय है, उसका निरूपण किया।

अगली भूमिका—अब श्रावक को समझाते हैं कि पूर्वोक्त प्रकार श्रावक धर्म को निर्दोष पालते रहना तथा तपों को और मुनिधर्म को भी अभ्यास रूप से पालना और उस समय की प्रतीक्षा तथा भावना रखना कि मुनिधर्म को अंगीकार करूं। उसके लिये एक तो किसी योग्य भावलिंगी दिगम्बर सन्त की तलाश रखना, खोज में रहना और दूसरे अपनी मुनि बनने की तैयारी रखना—और जीवन में जिस समय भी ये दोनों योग मिलें—उसी समय मौके का फायदा उठाकर झट मुनि बन जाना और इस पर्याय में रत्नत्रय को पूर्ण कर जन्म सफल करना—सोई कहते हैं—

गृहस्थ को मुनि होने का परामर्श

बद्धोद्यमेन नित्य लब्ध्वा समय च बोधिलाभस्य।
पदमवलम्ब्य मुनीना कर्त्तव्य मपदि परिपूर्णम् ॥२१०॥

अन्वय —च नित्य बद्धोद्यमेन गृहस्थेन) बोधिलाभस्य समय लब्ध्वा, मुनीना पद अवलम्ब्य (एतत् विकल रत्नत्रय) सपदि परिपूर्ण कर्त्तव्य।

सूत्रार्थ—निरन्तर पुरुषार्थ करने में तत्पर ऐसे (मोक्षाभिलाषी) गृहस्थ द्वारा पूर्ण रत्नत्रय के लाभ के समय को प्राप्त करके तथा मुनियों के चरण को अवलम्बन करके यह एकदेश रत्नत्रय शीघ्र ही परिपूर्ण करने योग्य है।

भावार्थ—आचार्य महाराज ने पूर्वसूत्र नं० १७ में कहा था कि पहले मुनिधर्म का उपदेश देना चाहिये और उसे सुनकर कोई व्यक्ति

उसे पालने के लिये किसी कारणवश अपनी असमर्थता प्रगट करे, उसके लिये श्रावक धर्म कहना चाहिये। अब कहते हैं कि ऐसे जीव को जिसने कि किसी भी अटक के कारण पूर्वनिरूपित श्रावक धर्म अङ्गीकृत किया था, उसे वह अटक दूर होने पर पर्याय पूर्ण होने से पहले मुनि होकर रत्नत्रय की कमी को इस पर्याय मे ही अवश्य पूर्ण कर देना चाहिये। उसके लिये दो बातों की आवश्यकता बतलाई, एक तो यह कि उसे अपनी पर्याय की योग्यता को जाचते रहना चाहिये और जिस समय भी अपनी आत्मा के द्रव्य क्षेत्र काल भाव को महाव्रतों के योग्य समझे, तुरन्त उन्हें अगीकार करे। उसमे ढील न करे। दूसरे यह जिनेन्द्र रूप है। जीव ने कभी इसका अभ्यास नहीं किया है। उसके पालने का मार्ग भी जानना होगा। उसमे कठिनाइया और दोष भी लगेंगे। उनके लिये प्रायश्चित और शुद्धि की भी आवश्यकता पडेगी। परिणामो को निरन्तर स्थिर रखने के लिये उपदेश तथा सधर्मी साधु चाहियें। अत जीव को मुनि बनने के लिये किसी योग्य भावलिंगी मुनि (आचार्य देव) के सघ की शरण लेनी चाहिये। उसके बिना मान आदि कषाय रूपी शत्रु का नाश नहीं होता तथा रत्नत्रय की सिद्धि नहीं होती–पर ऐसा मोक्षाभिलाषी जीव को करना अवश्य चाहिये क्योंकि यह अवसर बार बार नहीं मिलता।

सम्पूर्ण श्रावकधर्म का निरूपण समाप्त हुआ।

श्रावकमुनिधर्म पर प्रश्नोत्तर प्रमाण सूत्र स०

प्रश्न ९५—आवश्यक किन्हे कहते हैं ?

उत्तर—जो प्रतिदिन नियम से पाले जाते हैं उन्हें आवश्यक कहते हैं ? (२०१)

प्रश्न ९६—वे आवश्यक कितने हैं ?

उत्तर—छह हैं—(१) समता (२) स्तवन (३) वन्दना (४) प्रतिक्रमण (५) प्रत्याख्यान (६) व्युत्सर्ग। (२०१)

प्रश्न ९७—सम्यक् गुप्ति किन्हें कहते हैं ?

उत्तर—जिनके द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र गोपिये अर्थात् रक्षित कीजिये-सो सम्यक् गुप्ति कहाती है। जैसे कोट द्वारा नगर की रक्षा होती है-वैसे सम्यक् गुप्ति द्वारा मिथ्यात्व, अज्ञान, असयम आदि शुभाशुभ भावों से आत्मा की रक्षा की जाती है। (२०२)

प्रश्न ९८—वे गुप्ति कितनी हैं।

उत्तर—तीन हैं-(१) सम्यक् मनोगुप्ति (२) सम्यक् वचनगुप्ति (३) सम्यक् कायगुप्ति। (२०२)

प्रश्न ९९—सम्यक् समिति किसे कहते हैं ?

उत्तर—सम् अर्थात् भले प्रकार, सम्यक् अर्थात् शास्त्रोक्त विधि से, 'इति' कहिये गमनादि मे प्रवृत्ति-सो सम्यक् समिति है। इनमे समीचीन चेष्टा सहित आचरण होता है। इसलिये ये व्रतों की रक्षक और पोषक हैं। (२०३)

प्रश्न १००—वे समिति कितनी है ?

उत्तर—पाच हैं—(१) ईर्या (२) भाषा (३) एषणा, (४) आदाननिक्षेप (५) व्युत्सर्ग। (२०३)

प्रश्न १०१—उत्तम धर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर—आत्मस्वभावरूप वर्तन करना उत्तम धर्म है अथवा जिसको आत्मा स्वभाव रूप से धारण किये हुये है-वह उत्तम धर्म है। (२०४)

प्रश्न १०२—वे धर्म कितने है ?

उत्तर—दस हैं—उत्तम (१) क्षमा (२) मार्दव (३) आर्जव (४) शौच (५) सत्य (६) सयम (७) तप (८) त्याग (९) आकिंचन्य (१०) ब्रह्मचर्य। (२०४)

प्रश्न १०३—भावना किन्हे कहते हैं ?

उत्तर—जो वैराग्य उत्पन्न करने के लिये माता के समान बार बार चिन्तवन करने योग्य हों–वे भावना या अनुप्रेक्षा कहाती हैं। (२०५)

प्रश्न १०४—वे भावना कितनी हैं ?

उत्तर—बारह हैं—(१) अनित्य (२) अशरण (३) ससार (४) एकत्व (५) अन्यत्व (६) अशुचि (७) आस्रव (८) सवर (९) निर्जरा (१०) लोक (११) बोधिदुर्लभ (१२) धर्म। (२०५)

प्रश्न १०५—परीषह किसे कहते हैं ?

उत्तर—दु ख के निमित्त को परीषह कहते हैं ? (२०८)

प्रश्न १०६—परीषहजय किसे कहते हैं ?

उत्तर—भूख प्यास आदि दु ख का निमित्त बनने पर भी सक्लेशरहित चित्तवृत्ति परीषहजय है। (२०८)

प्रश्न १०७—परीषहजय क्यो किया जाता है ?

उत्तर—कभी सक्लेश का निमित्त बनने पर भय या दु ख या रागद्वेष रूप मलीनता न हो–इस कारण दु ख के सहन करने का अभ्यास परीषह सहन द्वारा सक्लेशरहितचित्तवाले श्रावक किया करते हैं।' (२०८)

प्रश्न १०८—गुप्ति से क्या लाभ है ?

उत्तर—गुप्तियों मे प्रवर्तमान पुरुष के योगो का निग्रह होने पर–उनके निमित्त से होने वाले आस्रव का अभाव होने से–तुरन्त सवर होता है। (२०२)

प्रश्न १०९—समितियो के पालने से क्या लाभ है ?

उत्तर—समितिपूर्वक प्रवर्तमान पुरुष के असयम के कारण जो कर्म आते थे–उनका सवर हो जाता है। (२०३)

प्रश्न ११०—१० धर्मों के पालने से क्या लाभ है ?

उत्तर—१० धर्मों मे प्रवर्तमान पुरुष के उसके विपक्ष के कारण से होने वाला कर्म का आस्त्रव नहीं होता—अत सवर होता है। (२०४)

प्रश्न १११—१२ भावनाओ के भाने से क्या लाभ है ?

उत्तर—इन भावनाओं के भाने वाले गृहस्थ के धर्म का महान् उद्यम जागृत हो जाता है। अतः निस्प्रमादी उस गृहस्थ के महान् संवर होता है। (२०५)

प्रश्न ११२—परीषहजय से क्या लाभ है ?

उत्तर—परीषहों के आने पर जो राग द्वेष होता है और उससे वंध होता है। असक्लेशचित्तपूर्वक उन्हें सहने से आस्रवादि का निरोध होने से संवर होता है। (२०६, २०८)

मुनिधर्म का निरूपण समाप्त हुआ—यह विषय तथा तपो का विषय हमने प्राय इसी आचार्यकृत 'तत्त्वार्थसार' ग्रथ से लिया है। सो कहीं सन्देह हो—तो वहा से मिलान कर लेना।

मार्मिक परिशिष्ट (अत्यन्त उपयोग—खास)

(सूत्र २११ से २२१ तक ११)

भूमिका—यह श्रावकाचार का विषय है। चरणानुयोग का ग्रन्थ है। इसमे अनादि से जीव कहां २ भूल करते आये हैं। इस का ज्ञान भी आचार्यों को रहता है। अतः गुरुदेव अब अत्यन्त उपयोगी एक खास बात श्रावक को समझाते हैं कि देख भाई ! श्रावक का पचम गुणस्थान है। उसमे कुछ शुद्ध भाव भी रहता है। कुछ शुभ भाव भी रहता है। कुछ मन वचन काय की पूजा पाठ स्वाध्याय आदि की शुभ क्रियायें भी रहती हैं। चरणानुयोग मे इन सबको धर्म रूप से कहा जाता है। अनादि कालीन अज्ञानी जगत् शुद्ध भाव को तो जानता ही नहीं है। अधिकांश तो केवल मन वचन काय आश्रित पूजादि रूप

योग क्रियाओं को ही वास्तविक (निश्चय) मोक्षमार्ग मानता है। कोई स्वाध्यायादि के शुभ विकल्पों को मोक्षमार्ग मानता है किन्तु यह तत्त्व की सोलह आने भूल है। ऐसा सर्वज्ञकथित मार्ग नहीं है। सर्वज्ञों ने तो केवल शुद्ध भाव को मोक्षमार्ग कहा है। उसी का नाम रत्नत्रय है। वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। शुभ भाव को तो व्यवहार धर्म कहा है। उसका अर्थ उपचार धर्म है। कहने मात्र का धर्म है वास्तव मे वह पुण्य तत्त्व है। उससे सवर-निर्जरा नहीं किन्तु वध होता है। वध मे भी स्थिति अनुभाग बध होता है। वह मोक्षमार्ग नहीं किन्तु उतना बन्धन मार्ग है अर्थात् उतना ससार मार्ग है। इसमे भूल न हो जाय तथा जो मन वचन काय की शरीराश्रित क्रियायें हैं। इनके निमित्त से आत्मप्रदेशों में योग कम्पन होता है। वह भी मोक्षमार्ग नहीं किन्तु वधमार्ग है। उससे मोक्ष नहीं किन्तु बन्ध होता है-प्रकृति प्रदेश वध होता है। अत भाई तुझे तीनों बातों का भिन्न २ पक्का ज्ञान होना चाहिये तभी तेरा तत्त्वश्रद्धान ठीक समझा जायेगा और तभी तेरा श्रावक धर्म पालना सफल होगा।

(१) सम्यग्दृष्टि का शुद्ध अश ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् रत्नत्रय है। वही अश मोक्षमार्ग है। उसी से सवर निर्जरा होती है।

(२) सम्यग्दृष्टि का शुभ विकल्प सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् रत्नत्रय नहीं है। राग है। पुण्य तत्त्व है। व्यवहार-उपचार या कहने मात्र का धर्म है-वास्तव मे बध भाव है। बन्धन का (ससार का) कारण है। उससे आस्रव पूर्वक स्थिति अनुभाव बध होता है।

(३) सम्यग्दृष्टि की शारीरिक पूजादिक की शुभ क्रियायें पुद्गल द्रव्य की क्रियायें हैं। इनके निमित्त से आत्मा में योग कम्पन होता है। वह विभाव है। बध का कारण है। उसका फल बंधन है-ससार है। उससे प्रकृति प्रदेश बध होता है। वह भी मोक्षमार्ग नहीं है।

इन तीन बातों को (Points को। अब परिशिष्ट रूप से गुरुदे

सूत्र २११ से २२१ तक अत्यन्त स्पष्ट रूप से हेतुपूर्वक समझाते हैं ताकि श्रावक की तत्त्व मे भूल या मिथ्या श्रद्धा दूर हो और वह वास्तविक बोध के साथ मुक्ति की साधना कर सके।

इस परिशिष्ट मे सार तत्त्व इतना ही सिद्ध किया है कि सम्यग्दृष्टि के शुद्ध अश मे मोक्ष ही है—बन्धन बिल्कुल नही और सम्यग्दृष्टि के शुभ अश से बन्धन ही है—मोक्ष बिलकुल नही। इसी बात को अस्ति नास्ति से अच्छी तरह शका समाधान पूर्वक खूब पोसा है बहुत जीवो को—यहा तक कि विद्वानों तक को यह शल्य रहती है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्यबध मोक्ष का कारण है—सो उस शल्य को यहा जडमूल से खोया है। आप इस प्रकरण को अच्छी तरह से अभ्यास करें और बार २ अभ्यास करें—ऐसी हमारी नम्र प्रार्थना है—

बहुत से जीवों को ऐसी भी शल्य रहती है कि मुनिधर्म से तो मोक्ष है और श्रावक धर्म से स्वर्ग है—उसके लिये सिद्ध किया है कि श्रावक का एकदेश रत्नत्रय यद्यपि रागमिश्रित है—पर वह रत्नत्रय अश तो मोक्ष का ही कारण है—बधन (स्वर्ग) का नहीं। स्वर्ग श्रावक को रत्नत्रय के कारण नहीं जाना पडता किन्तु सहचर राग के कारण जाना पडता है। यदि रत्नत्रय भी बध का कारण हो जायगा तो फिर मोक्ष का कारण क्या रहेगा? जितने अश मे उसके रत्नत्रय है—उतने अंश मे सवर निर्जरा मोक्ष ही है। इस विषय को जितना स्पष्ट इस आचार्यदेव ने लिखा है—इतना किसी ने भी नहीं लिखा है।

खास सूत्र

असमग्र भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो य।
स विपक्षकृतोऽवश्य मोक्षोपायो न बन्धनोपाय.॥२११॥

अन्वय —असमग्र रत्नत्रय भावयत य: कर्मबन्ध: अस्ति, स (बन्ध) अवश्य विपक्षकृत (अस्ति)। (एतत् असमग्र रत्नत्रयं तु) अवश्य मोक्षोपाय (अस्ति), बन्धनोपाय न (अस्ति)।

सूत्रार्थ—असम्पूर्ण रत्नत्रय को भाते हुये गृहस्थ के जो कर्मबन्ध होता है, वह कर्मबन्ध विपक्षकृत (विरोधीकृत–रागकृत) होता है किन्तु वह असम्पूर्ण रत्नत्रय तो अवश्य मोक्ष का उपाय (कारण) है–वह (असपूर्ण रत्नत्रय) कहीं बंधन (ससार) का कारण नहीं है।

भावार्थ—गृहस्थ के अधूरा रत्नत्रय होने के कारण कर्म बन्ध भी होता रहता है किन्तु मुमुक्षु को यह ध्यान रहे कि वह बन्ध उस एक देश रत्नत्रय से नहीं होता किन्तु उसका सहचर जो रागभाव है, उससे होता है। उसमे रत्नत्रय अश तो कदापि बंधन का कारण है ही नहीं-वह तो मोक्ष का ही कारण है और बंध तो किसी प्रकार मोक्ष का कारण है ही नहीं--वह तो बन्धन (ससार) का ही कारण है। ऐसा अस्ति नास्ति का नियम है। दोनों ओर से व्याप्ति है। अटल नियम है। यही अनेकान्त है।

इस सूत्र का भूल से कोई २ ऐसा भी अर्थ कर देते हैं कि सम्यग्दृष्टि का वह बंध (पुण्य बन्ध) मोक्ष का उपाय है, बन्धन का (ससार का) उपाय नहीं है किन्तु वह महान् भूल है। मोक्ष का उपाय तो रत्नत्रय है— बन्ध नहीं। उतना बन्ध तो ससार का ही कारण है। मुमुक्षु को कदापि ऐसी भूल नहीं करना चाहिये। यह १६ आने की भूल है और सात तत्त्वों के स्वरूप को (तत्त्वार्थ श्रद्धान को) नष्ट करने वाली भूल है। मिथ्यात्वरूप है। इस सूत्रका अर्थ प० टोडरमल जी कृत टीका जो कलकत्ते से छपी है उसमे तो ठीक छपा है। शेष श्रुत-प्रभावकमण्डल बम्बई टीका तथा प० मुक्खनलाल कृत टीका मे भूल हुई है। मुमुक्षु सुधार कर लें। प० उग्रसेन जी कृत रोहतक मे अर्थ ही नहीं लिखा है। अनागारधर्मामृत की हिन्दी टीका मे फुटनोट मे भी इस का अर्थ गलत छपा है। भाई नेमिचन्द वकील, सहारनपुर ने भी अपने एक व्यवहार निश्चय के ट्रैक्ट मे गलत अर्थ छापा है। खैर भूल सबसे होती है पर जिनके पास वे प्रतियां हों–वे सुधार कर लें अन्यथा सन्तान

दर सन्तान जो कोई भी पढेगा-उसे भूल होती ही रहेगी। जिनको अभी भी सन्देह हो, वे निर्णय करें-ऐसी प्रार्थना है। आत्महित पदार्थ के निर्णय मे ही है। अब आचार्य महाराज स्वयं करुणा करके इसको विशेष स्पष्ट करते हैं कि एक ही पर्याय मे जितना शुद्ध अंश रत्नत्रय रूप है उतना तो मोक्षोपाय है और जितना शुभाशुभ राग अंश है उतना बधन (ससार) उपाय है। ये अगले तीन इसी सूत्र का पेट खोलने के लिये लिखे गये हैं :—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धन नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धन भवति ॥२१२॥

येनांशेन ज्ञान तेनांशेनास्य बन्धन नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धन भवति ॥२१३॥

येनांशेन चरित्र तेनांशेनास्य बन्धन नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१४॥

अन्वय.—अस्य (श्रावकस्य) येन अंशेन सुदृष्टि -तेन अंशेन बन्धनं नास्ति, तु येन अंशेन अस्य राग-तेन अंशेन बन्धन भवति ॥२१२॥ येन अंशेन अस्य ज्ञान-तेन अंशेन बन्धन नास्ति तु येन अंशेन रागः तेन अंशेन अस्य बन्धन भवति ॥२१३॥ येन अंशेन अस्य चरित-तेन अंशेन बन्धन नास्ति तु येन अंशेन राग तेन अंशेन अस्य बन्धनं भवति ॥२१४॥

सूत्रार्थ—इस विकल रत्नत्रय को भाने वाले गृहस्थ के, जितने अंश से सम्यग्दर्शन है (शुद्धि है-शुद्ध भाव है, राग रहित अंश है) उतने अंश से बन्धन नहीं है तथा जितने अंश से इसके राग है-उतने अंश से बन्धन होता है। ॥२१२॥ और इसके जितने अंश से सम्यग्ज्ञान है-उतने अंश से बन्धन नहीं है किन्तु जितने अंश से इसके राग है उतने अंश से बन्धन होता है ॥२१३॥ और इसके जितने अंश से चारित्र है

उतने अश से बन्धन नहीं है किन्तु जितने अश से इसके राग है—उतने अश से बन्धन होता है ॥२१४॥

भावार्थ—यहा सम्यग्दृष्टि की एक ही अखण्ड पर्याय के टुकडे करके अस्ति नास्ति से दोनो अंशों का भिन्न २ फल दिखलाया है कि सम्यग्दृष्टि का शुद्ध अश मोक्ष कारणता का ही कार्य करता है। बन्धन का कार्य कदापि नहीं करता और सम्यग्दृष्टि का राग अश (चाहे शुभ हो चाहे अशुभ) बन्धन का ही कार्य करता है। मोक्ष का कार्य कदापि नहीं करता। इसमे यह भी स्पष्ट कर दिया है कि रत्नत्रय शुद्ध अश को ही कहते हैं। शुभ अश को नहीं। उसे तो राग कहते हैं। अखण्ड पर्याय होते हुये भी रत्नत्रय तो शुद्ध अश का ही नाम है ऐसा यहां स्पष्ट है। तथा लक्षण रूप सूत्र न० २२, ३५, ३९ तथा १२६ मे भी रागाश का निषेध ही किया है। केवल शुद्ध अश ही लिया है। अब इसी को और स्पष्ट करते हैं—

योगात्प्रदेशबन्ध स्थितिबन्धो भवति तु कषायात् ।
दर्शनबोधचरित्र न योगरूप कषायरूप च ॥२१५॥

अन्वय—योगात् प्रदेशबन्ध भवति कषायात् स्थितिबन्ध भवति तु दर्शनबोधचरित्र योगरूप च कषायरूप न।

सूत्रार्थ—योग से प्रदेशबन्ध होता है। कषाय से स्थितिबध होता है किन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो योगरूप और कषाय रूप नहीं है।

भावार्थ—चरणानुयोग शास्त्र मे कहीं तो मन वचन काय की शुभ क्रियाओं का मोक्षमार्ग में निर्देश होता है। कहीं शुभ विकल्पों का मोक्षमार्ग मे निर्देश होता है। कहीं शुद्ध भावों का मोक्षमार्ग मे निर्देश होता है तो आचार्य महाराज ने पूर्व सूत्र २१२, २१३, २१४ मे तो यह नियम बाध दिया है कि मोक्षमार्ग तो उतने अशमे ही है जितना शुद्ध अश है तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र या रत्नत्रय भी उसी अश को कहते हैं।

बाकी रहा शुभ भाव यह एक प्रकार का राग है, शुभ कषाय है। उससे बंध ही होता है यह तो उसी २१२, २१३, २१४ मे कहा था पर उससे स्थिति तथा अनुभाग बंध होता है यह यहा बता दिया है। साथ मे यह कहा कि उन राग भावों के साथ जो द्रव्य मन, वचन, काय, आश्रित शुभ क्रियायें होती हैं। जिनको व्यवहार धर्म कहते हैं उनके निमित्त से जो आत्मा मे प्रदेशों का कम्पन होता है। उस प्रदेश कम्पन को योग कहते हैं। उससे प्रदेश तथा प्रकृति बन्ध होता है। क्योंकि नीचे के गुणस्थानों में आत्मा मे शुद्धभाव, शुभ भाव (कषाय भाव) तथा योग कम्पन एक समय मे इकट्ठे होते हैं। अत गुरु महाराज ने तीनों का भिन्न २ कार्य (फल) निर्देश कर दिया है। इसके अध्ययन से अब मुमुक्षुओं को किसी प्रकार की भूल न रहनी चाहिये और न गडबड का कोई अवकाश ही रहता है। सार यह कि सम्यग्दृष्टि का शुद्ध भाव मोक्ष का कारण, शुभ भाव (पुण्य भाव—पूजा भक्ति स्वाध्याय आदि का भाव) स्थिति अनुभाग बंध का कारण और मन वचन काय की शुभ क्रियायें जो व्यवहार धर्म कहलाती हैं—उन आश्रित योग कम्पन प्रकृति प्रदेश बंध का कारण है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु बंध का ही कारण है और उसका फल ससार ही है और इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि सम्यग्दृष्टि का शुद्ध अश मोक्ष का ही कारण है—वर्ग बन्ध का कारण नहीं है।

अगली भूमिका—सम्यग्दृष्टि के राग से बंध ही है—यह तो ऊपर समझाया। सम्यग्दृष्टि के शुद्ध अश से (रत्नत्रय से) बंध नहीं ही है—यह अब समझाते हैं। और हेतुपूर्वक समझाते हैं।

जब पर्याय के टुकडे करके केवल शुद्ध भाव को सम्यग्दर्शन—ज्ञान चारित्र कहना होता है तो यही लक्षण कहते हैं कि आत्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन, आत्मा का ज्ञान—सम्यग्ज्ञान, आत्मा मे स्थिरता—सम्यक् चारित्र। ऐसा क्यों ? क्योंकि शुद्ध रत्नत्रय को केवल अपनी सामान्य

आत्मा का आश्रय रहता है। उसमे देव शास्त्र गुरु के श्रद्धान से या स्व पर के श्रद्धान से या नौ तत्त्वो के श्रद्धान से, कुछ प्रयोजन नहीं है। यह झगडा तो साथ मे राग अश की कृपा से कहना पडता है। दूसरी वात यहा यह वताते हैं कि शास्त्रों मे और लोक मे भी ऐसा कहने मे आता है कि सम्यक्त्व, देशसयम तथा सरागचारित्र से स्वर्ग इत्यादि का वध होता है तो उसके उत्तर में आचार्य देव ने पूर्वसूत्र २१५ मे कहा कि वध तो रत्नत्रय के सहचर कषाय और योग से होता है। शुद्धभाव से नहीं। शुद्धभाव से वध नहीं होता किन्तु मोक्ष होता है इसी को यहा समर्थन करते हुये स्पष्ट किया है तथा रत्नत्रय से वध मानने वाले शिष्य की शका को निराकरण करते हुये लिखते हैं कि अरे ! शुद्ध अश मे पर के श्रद्धान ज्ञान चारित्र की वात तो है ही नहीं। फिर वध कैसा ? केवल आत्माश्रित श्रद्धान ज्ञान चारित्र से तो भाई मोक्ष ही होता है, वध नहीं, ऐसा यह नियम रूप सूत्र वाधा है. सोई कहते हैं -

खास से भी खास सूत्र

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते वोधः ।
स्थितिरात्मनि चारित्र कुत एतेभ्यो भवति वन्धु ॥२१६॥

अन्वय.—आत्मविनिश्चिति. दशन इष्यते। आत्मपरिज्ञान वोध इष्यते। आत्मनि स्थिति. चारित्र इष्यते। एतेभ्य. वन्धः कुत भवति ?

. सूत्रार्थ—(अपनी) आत्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहा जाता है। (अपनी) आत्मा का जानना सम्यग्ज्ञान कहा जाता है और (अपनी) आत्मा मे स्थिरता सम्यक्चारित्र कहा जाता है। इनसे वध कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता (किन्तु सवर निर्जरा पूर्वक मोक्ष ही होता है)।

भावार्थ—यह श्रावक के केवल उतने अंश का कथन है जितना

सामान्य (परम पारिणामिक[1]–त्रिकाली–ज्ञायक) के श्रद्धान–ज्ञान तथा आश्रय रूप ही है और उसका फल श्रावक के संवर निर्जरा पूर्वक मोक्ष ही है। बंधन बिलकुल नहीं है। इस सूत्र के अर्थ का सबसे सुन्दर स्पष्टीकरण महा मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारी देव ने अपनी एक अलौकिक दिव्य टीका श्री नियमसार परमागम सूत्र[2] ३ मे इस प्रकार दिया है —

"(१) परद्रव्य को अवलम्ब्या विना नि.शेषपने अन्तर्मुख योग-शक्ति मे से उपादेय (उपयोग को सम्पूर्णपने अन्तर्मुख करके ग्रहण करने योग्य) ऐसा जो निज परम तत्त्व का परिज्ञान (जानना) वह ज्ञान है। (२) भगवान् परमात्मा के सुख के अभिलाषी जीव के शुद्ध अन्त तत्त्व के विलास का जन्मभूमिस्थान जो निज शुद्ध जीवास्तिकाय उससे उपजता हुआ जो परम श्रद्धान वह ही दर्शन है (३) निश्चयज्ञानदर्शनात्मक कारण परमात्मा मे अविचलित स्थिति (निश्चल रूप से लीन रहना) वह ही चारित्र है।" यह ज्ञानदर्शनचारित्र नियम से निर्वाण का कारण है। बन्ध का रचमात्र कारण नहीं है। इसी अर्थ को श्री समयसार परमागम बंध अधिकार मूलसूत्र २७७ टीका सहित मे भी अवश्य देखिये।

---

[1] इस परमपारिणामिक भाव मे 'पारिणामिक' शब्द होने पर भी वह उत्पादव्ययरूप परिणाम की सूचना के लिये नही है और पर्यायार्थिक नय का विषय नही है, पर परम पारिणामिक भाव तो उत्पादव्ययनिरपेक्ष एकरूप है और द्रव्यार्थिक नय का विषय है [विशेष के लिये हिन्दी समयसार के ४२३–४२४वे पेज मे श्री जयसेनाचार्य देव की संस्कृत टीका देखिये और बृहद्द्रव्यसंग्रह का ३४–३५वा पेज देखिये]।

[2] श्री नियमसार का वह मूलसूत्र न० ३ तथा उसकी टीका एक महान् उत्कृष्ट और मुमुक्षु के लिये परम हितकारक वस्तु है। उसका अवश्य अभ्यास मूल आगम से करिये।

एक खास बात यहा और समझ लेने की है कि आचार्य महाराज इसी ग्रन्थ मे पूर्व सूत्र न० २२ मे तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन का, न० ३५ मे तत्त्वार्थज्ञान को सम्यग्ज्ञान का तथा न० ३९ मे रागद्वेष रहित वीतरागता को सम्यक्चारित्र का लक्षण कहकर आये हैं और तीनों सूत्रो मे आत्मरूप लिख कर शुद्ध अश मात्र का ही ग्रहण स्वीकार किया है। और इसी ग्रन्थ मे यहाँ तीनों का लक्षण मात्र आत्मा का श्रद्धान ज्ञान स्थिति किया है। ये भी मात्र शुद्ध अश रूप ही है। फिर ऐसा क्यों ? इसका समाधान यह है कि उन्हें चरणानुयोग का ग्रन्थ बनाना था जिसमे निरूपण भेद से ही होता है। अभेद मे शिष्य नहीं समझ सकता। अत वे तीनो लक्षण केवल भेद प्रधान दृष्टि से किये हैं। वे इस ग्रन्थ निरूपण के आधार तथा स्तम्भ है। यहां प्रकरण बध और मोक्ष की शका समाधान का चल रहा था–जिसके निर्णयरूप मे शिष्य को ये विवेक करा रहे हैं कि दर्शन ज्ञान चारित्र मात्र उतने अश का ही नाम है जितना कि सामान्य आत्मा के श्रद्धान ज्ञान तथा स्थिति रूप है। उस अभेद अश से बध कैसा ? बध तो मात्र उतने अश से है जितना अश शुभ या अशुभ रूप रागमय परद्रव्याश्रित है। इस शंका समाधान का भाव ज्यों का त्यों वही है जो श्री समयसार जी बधाधिकार के मूलसूत्र २७६–२७७ का तथा टीका का है। उसे भी अवश्य अभ्यास करिये।

अगले सूत्र २१७ से २२२ तक की भूमिका—उपर्युक्त सब वृतान्त सुनकर शिष्य के हृदय मे कुछ शकायें रह जाती हैं। वह पूछता है कि अच्छा महाराज यह बताइये कि तीर्थंकर प्रकृति, आहारक प्रकृति, अनुदिश तथा सर्वार्थसिद्धि आदि का बध किसके होता है तो उत्तर यही है कि 'सम्यग्दृष्टि के' क्योंकि सम्यग्दर्शन होने से पहले ये नहीं बन्धती।। इस पर वह कहता है कि यदि रत्नत्रय से बध नहीं है तो फिर यह क्यों कहते हो कि 'सम्यग्दृष्टि के' और यदि कषाय से बधती है तो वह

कषाय जिससे कि ये बधती हैं, चाहे सम्यग्दृष्टि करे-चाहे मिथ्यादृष्टि करे-दोनों के बधनी चाहियें। उसके उत्तर मे उसे समझाते हैं कि ये प्रकृतिया बध रूप हैं और पूर्व नियमानुसार बध कषाय से ही होता है। यह नियम तो बराबर ठीक है। इसमे विशेष बात समझने की इतनी और है कि ये प्रकृतिया बधती तो सम्यग्दृष्टि के ही हैं पर रत्नत्रय से नहीं बधती किन्तु रत्नत्रय के सहचर राग से बधती हैं और वह राग दर्शनमोह रहित केवल चारित्रमोह सम्बन्धी बहुत हल्का होता है। वह राग मिथ्यादृष्टि को कभी होता ही नहीं। इसलिये तो मिथ्यादृष्टि के नहीं बधनी और सम्यग्दृष्टि के बधती हैं यह जो कहा जाता है वह एक अखण्ड पर्याय होने के कारण तथा उस पर्याय का धारी द्रव्य उससे तन्मय रहने के कारण पर्याय का खण्ड न करके अखण्ड पर्याय की अपेक्षा ऐसा कह देते हैं कि ये प्रकृतिया सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्र से बधती हैं और आगम का ऐसा कथन नयविभाग के जानने वालों को दोष का कारण नहीं बनता क्योंकि वे भाव वस्तु नियमानुसार ठीक समझ लेते हैं—

सम्यक्चारित्राभ्या तीर्थंकराहारकर्मणो वन्ध ।
योऽप्युपदिष्ट समये न नयविदा सोऽपि दोपाय ॥२१७॥

अन्वय —अपि य सम्यक्चारित्राभ्या तीर्थंकराहाकर्मण· वन्ध समये उपदिष्ट, स: अपि नयविदा दोपाय न ।

सूत्रार्थ—और जो सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से तीर्थंकर प्रकृति और आहारक प्रकृति का वन्ध आगम मे कहा गया है, वह भी नय के जानने वालों को दोप के लिये नहीं है [क्योंकि वे वस्तु के नियमानुसार उसका भाव तुरन्त समझ लेते हैं कि वह उपचार कथन है। बध वास्तव मे दर्शन-चारित्र से नहीं किन्तु उसके सहचर राग से है]।

अब इसी नियम को आचार्य देव स्वय स्पष्ट करते हैं—

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थंकराहारवन्धको भवत ।

अन्वय —सम्यक्त्वचरित्रे सति योगकषायौ तीर्थंकराहारबन्धकौ भवत पुन' सम्यक्त्वचरित्रे असति योगकषायौ तीर्थंकराहारबन्धकौ न भवत । तत् अस्मिन् बन्धे उदासीन (अस्ति)।

सूत्रार्थ—सम्यक्त्व और चारित्र के रहते हुये, योग और कषाय तीर्थंकर और आहारक प्रकृति के बधक (बंध करने वाले) होते हैं। सम्यक्त्व और चारित्र के नहीं रहते हुये योग और कषाय तीर्थंकर और आहारक प्रकृति के बन्धक नहीं होते हैं। वह सम्यक्त्व और चारित्र तो इसमे (तीर्थंकर और आहारक प्रकृति के बध मे) उदासीन है (बन्ध करने वाला नहीं है)।

नोट—अब इसी बात को शका समाधान द्वारा फिर पीसते हैं ताकि विशेष स्पष्ट हो जाय-इस शका समाधान मे जो ऊपर सिद्धात कहा है उसके अतिरिक्त और कुछ विशेषता नहीं है। केवल विषय की अधिक स्पष्टता के कारण लिखा गया है।

शका

ननु कथमेव सिद्धयति देवायु प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्ध.।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारीणा मुनिवराणाम् ।।२१९।।

अन्वय —ननु। एव रत्नत्रयधारिणा मुनिवराणा सकल-जनसुप्रसिद्ध देवायु प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्ध कथ सिद्धयति ?

शका—इस पूर्वोक्त कथनानुसार तो रत्नत्रयधारी मुनिवरों के समस्त जन समूह से भली भांति सुप्रसिद्ध देवायु आदिक पुण्य प्रकृतियोंका बन्ध कैसे सिद्ध होता है ?

भावार्थ-६ ग्रीवकों तक का बध तो सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के मुनियों के होता है। उससे यहा आशय नहीं है। यहां तो केवल ६ अनुदिश और पच पचोत्तर आदि केवल उन प्रकृतियों के बध से आशय है जिनका बध केवल भावलिंगी मुनियों के ही होता है। शिष्य अपनी

भूल के कारण उनका वंध शुभ राग से नहीं किन्तु शुद्ध रत्नत्रय से समझता है। उसकी इस गलत धारणा को दूर करने के लिये यह प्रकरण लिखा है। जैसे मोक्षशास्त्र जी मे लिखा है कि सम्यक्त्व तथा सराग चारित्र से देवायु का आस्रव वध होता है इत्यादिक।

समाधान २२०-२२१

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्य शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥२२०॥

अन्वय-—इह रत्नत्रय निर्वाणस्य एव हेतु भवति अन्यस्य न। तु यत् पुण्य आस्रवति अयं अपराध. शुभोपयोगस्य अस्ति। [न रत्नत्रयस्य अस्ति]।

सूत्रार्थ—रत्नत्रय निर्वाण का ही कारण है। दूसरे का अर्थात् वन्धन का नहीं किन्तु जो पुण्य आस्रव होता है यह अपराध (दोष) केवल शुभोपयोग का है (रत्नत्रय का नहीं)।

भावार्थ—यहां मोक्ष और वध का नियम अस्ति नास्ति से कहा है। रत्नत्रय मोक्ष का ही कारण है—वध का नहीं। शुभ राग वध का ही कारण है—मोक्ष का नहीं। इस पर फिर शिष्य कहता है कि शास्त्र में तो रत्नत्रय से वंध लिखा है—उसका क्या होगा ? तो उत्तर अगले सूत्र मे समझाते हैं—

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपिरूढिमितः ॥२२१॥

अन्वय —हि एकस्मिन् अत्यन्तविरुद्धकार्ययो अपि समवायात् तादृश अपि व्यवहार रूढि इत' यथा इह घृत दहति इति।

सूत्रार्थ—वास्तव मे एक वस्तु में अत्यन्त विरोधी दो कार्यों के भी इकट्ठा रहने से वैसा ही विरुद्ध व्यवहार रूढ़ि को प्राप्त है जैसे इस लोक मे 'घी जलाता है'—ऐसा व्यवहार होता है [उसी प्रकार अत्यन्त

विरोधी शुद्ध और शुभ भावों के एक पर्याय मे अखण्ड रूप से इकट्ठे रहने के कारण शुभ भाव से होने वाले बध को शुद्धभावकृत कहने की आगम तथा लोक की रूढ़ि है–ऐसा जानना] ।

भावार्थ—लोक मे घी तो प्रत्यक्ष जले हुये पर लगाने से उस जलन को उलटा शान्त कर देता है । घी का स्वभाव जलाने का नही किन्तु जलन को मिटाने का है पर जब घी कडाही मे आग का सहयोग कर लेता है और पक्का भोजन बनाते समय जब वह घी शरीर के किसी अग पर गिर जाता है तो वहा से जल जाता है । यद्यपि जलाया उस आग ने है, घी ने नहीं; पर वहा आग की मुख्यता नहीं–घी की मुख्यता है । इसलिये सब जगत् यही कहता है कि घी ने जलाया है । आग को कोई नहीं कहता । ऐसा क्यों ? क्योंकि दोनों का समन्वय है । इकट्ठा सहवास है बुरे की सगति से बदनामी आये बिना नहीं रहती । उसी प्रकार रत्नत्रय का स्वभाव तो बध करना नहीं किन्तु बन्धन को मिटाना है–सवर–निर्जरा–मोक्ष करना है । बन्धन तो राग का स्वभाव है । रत्नत्रय घीवत् ठण्डा है किन्तु राग अग्निवत् गरम है । मुनियों मे रत्नत्रय की मुख्यता रहती है–राग की नहीं । अत. भाई लोक की तथा आगम की ऐसी ही कहने की रूढि है कि रत्नत्रय से बध है । ऐसा क्यो ?क्योंकि दोनों का समवाय है–सहचरता है । राग की सगति के कारण रत्नत्रय को बदनाम होना पडा है पर उसमे वास्तविक सिद्धात क्या है इसको नयविभाग के जानने वाले प्रौढ पुरुष बराबर समझ लेते हैं । धोका नहीं खाते । ऐसा कथन श्री पचास्तिकाय सूत्र १६४ मे भी आया है । वहां से टीका सहित जानना । भाव स्पष्ट हो जायेगा । वहा भी यही भाव है ।

सूत्र २११ से २२१ तक का सार

(१) शास्त्रों मे कभी–कभी दर्शन–ज्ञान–चारित्र को भी, यदि वे परसमय प्रवृत्ति (राग) युक्त हों तो, कथचित् बध का कारण कहा जाता है;

और कभी ज्ञानी को वर्तते हुये शुभ भावों को भी कथचित् मोक्ष का परम्परा हेतु कहा जाता है। शास्त्रों मे आने वाले ऐसे भिन्न–भिन्न पद्धति के कथनों को सुलझाते हुये यह सारभूत वास्तविकता ध्यान मे रखना चाहिये कि–ज्ञानी को जब शुद्धाशुद्ध रूप मिश्र पर्याय वर्तती है तब वह मिश्र पर्याय एकान्त से सवर–निर्जरा–मोक्ष को कारणभूत नहीं होती, अथवा एकान्त से आस्रव–बंध का कारणभूत नहीं होती, परन्तु उस मिश्रपर्याय का शुद्ध अश सवर–निर्जरा–मोक्ष का कारणभूत होता है और अशुद्ध अश आस्रव बध का कारणभूत होता है।

(२) ज्ञानी को शुद्धाशुद्ध रूप मिश्र पर्याय मे जो भक्ति–आदि–रूप शुभ अंश वर्तता है–वह तो मात्र देवलोकादि के क्लेश की परम्परा का ही हेतु है और साथ ही साथ ज्ञानी को जो (मदशुद्धिरूप) शुद्ध अंश परिणमित होता है वह सवर निर्जरा का तथा (उतने अ श मे) मोक्ष का हेतु है। वास्तव मे ऐसा होने पर भी, शुद्ध अश मे स्थित सवर–निर्जरा–मोक्ष–हेतुत्व का आरोप उसके साथ के भक्ति आदि रूप शुभ अश मे करके उन शुभ भावों को देवलोकादि के क्लेश की प्राप्ति की परम्परा सहित मोक्ष प्राप्ति के हेतुभूत कहा गया है। यह कथन आरोप से (उपचार से) किया गया है ऐसा समझना [ऐसा कथचित् मोक्षहेतुत्व का आरोप भी ज्ञानी को ही वर्तते हुवे भक्ति–आदि रूप शुभ भावो मे किया जा सकता है। अज्ञानी को तो शुद्धि का अश मात्र भी परिणमन मे न होने से यथार्थ मोक्ष हेतु बिलकुल प्रगट ही नहीं हुआ है–विद्यमान ही नहीं है तो फिर वहा उसके भक्ति–आदि रूप शुभ भावों मे आरोप किसका किया जाये]।

परिशिष्ट समाप्त हुआ।

परिशिष्ट पर प्रश्नोत्तर प्रमाण सूत्र स०

प्रश्न ११२—श्रावक के तो स्वर्ग का बन्ध होता है। फिर उसका रत्नत्रय मोक्ष का कारण कहा रहा ?

उत्तर—श्रावक का रत्नत्रय नियम से रागमिश्रित रहता है। अत वह बन्ध रत्नत्रय से नहीं किन्तु राग से होता है। रत्नत्रय तो सवर निर्जरा पूर्वक उतने अश मे मोक्ष का ही कारण है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि जितने अश मे शुद्ध भाव है उतने अश मे बध नहीं है। जितने अश मे शुभ अशुभ राग है—उतने अ श मे स्थिति अनुभाग बध है और जितने अ'श मे पूजापाठादि कार्यों मे मन वचन काय आश्रित योग कम्पन है उससे प्रकृति प्रदेश बध होता है। इस प्रकार एक समय की एक ही अखड पर्याय मे भिन्न अ श रूप कारण से भिन्न २ कार्य होता रहता है। इसलिये श्रावक का रत्नत्रय अ श तो मोक्ष का ही कारण है बन्धन का नहीं। और सम्यग्दृष्टि का राग अ श बध का ही कारण है—मोक्ष का नहीं। (२११ से २१५ तक)

प्रश्न ११४—सम्यग्दृष्टि के रत्नत्रय (शुद्धभाव) से बंध क्यो नही होता ?

उत्तर—आत्मा (अर्थात् ध्रुव स्वभाव) के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। आत्मा के जानने को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। आत्मा मे स्थिरता को सम्यक्चारित्र कहते हैं। यह आत्मा का स्वभाव परिणमन है। इसमे पर का दखल बिलकुल नहीं है। अत इनसे बध कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। (२१६)

प्रश्न ११५—तीर्थंकर प्रकृति, आहारकप्रकृति, ९ अनुदिश तथा पच पचोत्तरविमानों का बध किनके होता है और क्यो ?

उत्तर—इन प्रकृतियों का बध सम्यग्दृष्टि के ही होता है। मिथ्यादृष्टि के कदापि नहीं होता—पर वह बध रत्नत्रय से नहीं होता किन्तु उसके सहचर शुभ भाव से अर्थात् चारित्र मोहजनित राग से होता है। (२१७ से २२१ तक)

प्रश्न ११६—मिथ्यादृष्टि के इनका बध क्यो नहीं होता ?

उत्तर—इनके बंध का अविनाभाव मिथ्यात्व रहित केवल चारित्रमोह सम्बन्धी राग से है और वह राग सम्यग्दृष्टि मे ही पाया जाता है। मिथ्यादृष्टि मे कभी पाया ही नहीं जाता। सम्यग्दृष्टि मे रत्नत्रय पाया जाता है इस कारण से इनका बंध नहीं होता किन्तु दर्शनमोह रहित केवल चारित्रमोह पाया जाता है। इस कारण से होता है। (२१७ से २२१ तक)

प्रश्न ११७—शास्त्रो मे यह क्यो कहा जाता है कि सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र से बंध है ?

उत्तर—वह उपचार कथन है। उसका अर्थ ऐसा है कि वह बंध रत्नत्रय से नहीं किन्तु उसके सहचर राग से होता है। समवाय सम्बन्ध के कारण ऐसा कथन कर देते हैं। (२२१)

प्रश्न ११८—शास्त्रो मे कही २ यह क्यो कहा जाता है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण है ?

उत्तर—वह उपचार कथन है। उसका अर्थ ऐसा है कि वह पुण्यभाव मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु उसका सहचर रत्नत्रय मोक्ष का कारण है। समवाय सम्बन्ध के कारण ऐसा कथन कर देते हैं। (२२१)

उपाय तत्व (मोक्षमार्ग) का उपसंहार

सम्यक्त्वचरित्रबोधलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येष ।
मुख्योपचाररूप प्रापयति परमपद पुरुषम् ॥२२२॥

अन्वय—इति एष मुख्योपचाररूप. सम्यक्त्वचरित्रबोधलक्षण मोक्षमार्ग पुरुष परमपद प्रापयति ।

सूत्रार्थ—इस प्रकार यह पूर्वकथित निश्चय और व्यवहार रूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र लक्षण मोक्षमार्ग आत्मा को परम पद को (मोक्ष को) प्राप्त कराता है।

भावार्थ—मुख्य रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रय को कहते हैं जो चौथे से बारहवें तक के शुद्ध भाव का द्योतक है और उपचार रत्नत्रय शुभ राग को कहते हैं जो चौथे से दसवें तक रत्नत्रय का सहचर है। तेरहवें मे मोक्ष है–साध्य भाव है। प्राप्ति तो इस साध्य की केवल शुद्धभावरूप मुख्यरत्नत्रय से ही होती है किन्तु यहा निरूपण पर्याय के टुकडे करके नहीं किया है। मोक्षमार्ग जो विशेष्य है–वह एकवचन मे लिखा है। अखण्ड पर्याय का निरूपण है। जिसका स्वत अर्थ यह कि मुख्य रत्नत्रय निश्चय से कारण है और उपचार रत्नत्रय उपचार से कारण है और उपचार से दोनों मे साध्य साधन भाव है। यहा आकर आचार्य महाराज ने वही बात कही है जो पहले सूत्र ४ से ८ तक ग्रन्थ प्रारम्भ मे ही भूमिका रूप से कही थी कि जो शिष्य दोनों को जानकर मध्यस्थ होता है। किसी एक को मानकर दूसरे को सर्वथा त्याग करके एकाती नहीं होता वह ही उपदेश के फल को अर्थात् मोक्ष को पाता है। कृपया उन ४ से ८ सूत्रों को अर्थ सहित एक बार फिर पढिये।

यह सूत्र चौथे से बारहवें तक की अखण्ड पर्याय का निरूपक है। ग्रन्थ में वर्णन भी अखण्ड पर्याय का है पर एक खास बात ध्यान रखने की है कि रत्नत्रय के लक्षण रूप जो सूत्र २२, ३५, ३६ तथा २१६ कहे गये हैं उनमे रागाश का रचमात्र ग्रहण नहीं किया है। चरणानुयोग का ग्रन्थ होने के कारण निरूपण अखण्ड पर्याय का किया है जिसमे मुख्योपचार दोनो रत्नत्रय हैं तथा भूमिका मे सूत्र ४ से ८ तक भी दोनों का समन्वय दिखलाया है तथा यहा अन्त मे आकर फिर समन्वय कर दिया है ताकि किसी एक का पक्षपाती होकर दूसरे का लोप करके किसी एक का ग्रहण न करले। पूर्व परिशिष्ट मे सूत्र २११ से २२१ तक यह स्पष्ट कर आये हैं कि रत्नत्रय उतने अश में ही है जितना शुद्ध है और मोक्ष भी उतने ही अश का फल है जितना शुद्ध है। उपचार रत्नत्रय का फल तो बंधन है। इस उपचार रत्नत्रय को जानकर इसका ज्ञाता

बनकर, स्वरूप को प्राप्त करता हुवा जो इसको पर्याय में से निकालकर मुख्यरत्नत्रय मे पूर्ण स्थिरता करता है वह अवश्य परमपद को पा लेता है। इसकी विधि श्रीपचास्तिकाय के अन्तिम २० सूत्रों मे सविस्तार इन्ही आचार्यदेव ने टीका मे खोली है। आगम का सत्य हार्द खोलने वाले उस सद्गुरुदेव श्रीअमृतचन्द्र जी महाराज की जय हो तथा उस मुख्योपचार रूप रत्नत्रय मार्ग की—अर्थात् पुरुष की सिद्धि के उपाय की भी जय हो कि जिस के द्वारा यह जीव अपने साध्य को पाकर परम सुखी होता है। एकान्त इस लिये भी गलत है कि न अकेला शुद्ध भाव रहता है, न अकेला शुभ भाव रहता है। जब दोनों इकट्ठे रहते हैं तो एक को मानकर दूसरे को कैसे उडाया जा सकता है। वस्तु स्वरूप गलत हो जायगा।

आपको यह शङ्का हो सकती है कि राग को उपचार रत्नत्रय क्यों कहा है। उसे तो बस राग ही कहना चाहिये। देखो भाई! उस का उत्तर हम समझाये देते है (१) जगत् में जीव का सबसे बुरा तो मोह भाव करता है जिसको मिथ्यात्व भी कहते हैं। वह अशुभ भाव है। दूसरे नम्बर पर जीव का बुरा विषय कषाय रूप राग द्वेष भावों से होता है। यही भाव ससार के कारण हैं। मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप हैं। जब जीव इससे मुख मोड़कर मुख्योपचार रत्नत्रय को धारण करता है तो उसमे शुद्ध भाव तो है ही मोक्षरूप या मोक्षमार्ग रूप पर वह जो राग सात तत्त्वों की श्रद्धा रूप है या द्वादशांग के ज्ञान (अभ्यास रूप) है या षट्काय के जीवों की रक्षा रूप हैं अर्थात् १३ प्रकार के प्रवृत्ति रूप व्यवहार चारित्र रूप है बतलाइये तो सही, उसमे कौनसी विषय कषाय की पुष्टि है? संसार तो इन्द्रियों के विषय-कषाय पोखने का नाम है। वह राग केवल शुद्ध तत्त्व को जानने के लिये उस तक पहुंचने के लिये किया जाता है क्योंकि विकल्प को छोडकर शिष्य को वस्तु पकड़ाने का गुरुओं के पास और कोई साधन नहीं है। इसलिये इसको उपचार रत्नत्रय कहा। (२) दूसरे समाधि तो अन्तमुहूर्त ही रहती है। शेष जीवन

तो विकल्प मे ही जाता है। इस उपचार रत्नत्रय में जीव को जो अनादि अशुभ की चसक है—चपक है—उससे वचा रहता है। अस्थान का राग नहीं होने पाता। अशुभ भाव से जीव की रक्षा करता है। इसलिए भी उपचार रत्नत्रय कहा है। (३) तीसरे अशुभ में राग की तीव्रता है। इसमें मन्दता है। राग की तीव्रता न होने पाये इसलिये भी इसे उपचार रत्नत्रय कहते हैं। व्यवहार धर्म भी कहते हैं। व्यवहार शब्द तो यह वताता है कि यह असली धर्म नहीं है। नकली है। नकली का ही दूसरा नाम व्यवहार है। धर्म शब्द यह बताता है कि शुद्धभाव रूप असली धर्म का सहचर है। भले की सगती से जगत् में भी भला कह ही देते हैं ऐसा लोकव्यवहार है। पर एक बात और ख्याल रहे कि जो शुभ भाव से 'परीतससार' मानते हैं। अर्थात् शुभ भाव को—पुण्य को अशत सवर निर्जरा का कारण मानते हैं वे श्वेताम्बर जैसे ही हैं। यह मान्यता श्वेताम्बरों की है। दिगम्वर सन्तों ने चुकती केवल शुद्धभाव से ही परीत ससार माना है। इससे विरुद्ध श्रद्धा रखने वाला कोरा मिथ्या-दृष्टि और अनन्त ससारी है (श्री प्रवचनसार सूत्र ७७)। किसी दिगम्बर आगम में ऐसा शब्द लिखा भी हो तो उसे उपचार कथन समझना। उस का अर्थ इस प्रकार करना कि जैसे सम्यक्त्व में-सहचर राग के कारण—राग को वध का कारण न कहकर—सम्यक्त्व को कह देते हैं, उसी प्रकार राग के सहचर सम्यक्त्व को परीतससार (ससारस्थितिविच्छेदनार्थं) न कहकर सहचर राग को कह देते हैं। जिस प्रकार सम्यक्त्व से देवायु का आस्रव लिखा रहने पर भी अर्थ उसके सहचर राग का करते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के शुभ भाव से 'ससारस्थितिनाश' लिखो रहने पर भी अर्थ शुद्ध भाव ही करते हैं। ऐसी दिगम्वर सन्तों की, दिगम्बर आगम की परिपाटी तथा गुरू परम्परा है। दिगम्वर मे उपचार —उपचार ही रहता है और श्वेताम्बरों को उपचार या अज्ञानी को उपचार निश्चयपने को प्राप्त होजाता है जैसे बिल्ली सिंहपने को प्राप्त हो जाती है। यह पहले सूत्र ५-६-७ मे कहकर ही आये हैं। यदि दिगम्बर

सन्तों को शुभ से ससारस्थितिविच्छेद इष्ट होता तो श्रीअमृतचन्द्र आचार्यदेव श्रीपचास्तिकाय सूत्र १३६ की टीका में अवश्य लिखते पर लिखें कैसे वह तो आस्रव वध तत्त्व है। आस्र बंध तत्त्व संसारस्थिति बढाने वाला है या काटने वाला है। यह स्वय सोचिये। मुमुक्षु को ऐसी मोलह आने की भूल कदापि नहीं करनी चाहिये। आपको खबरदार कर दिया गया है।

पुरुष की सिद्धि के उपाय का तो यहा तक निरूपण हो चुका। अब उस उपाय तत्त्व (साध्य तत्त्व—पुरुष की सिद्धि-आत्मा के पूर्णरूप) का निरूपण दो सूत्रों द्वारा करते हैं जो रत्नत्रय का फल है। यह निरूपण साक्षात् सिद्ध दशा का है।

उपाय तत्त्व के फलस्वरूप

उपेय तत्व (मोक्षतत्व) का निरूपण

(सूत्र २२३-२२४=२)

नित्यमपि निरुपलेप स्वरूपसमवस्थितो निरुपघात.।
गगनमिव परमपुरुष परमपदे स्फुरति विशदतम.॥२२३॥

अन्वय —नित्य अपि निरुपलेप [१], स्वरूपसमवस्थित.[२], निरुपघात [३], गगनं इव विशदतम [४], परमपुरुष परमपदे स्फुरति।

सूत्रार्थ—(१) सदा ही कर्मरूप रज के लेप से रहित (२) स्वरूप में अवस्थित (३) उपघात रहित (४) आकाश की तरह अत्यन्त निर्मल, परम पुरुष (परमात्मा) परमपद (मोक्ष) मे स्फुरायमान होता है (सुशोभित होता है)।

(१) नित्य अपि निरुपलेप —विशेषण यह बताता है कि आत्मा मोक्ष में द्रव्यकर्म से रहित होकर जाता है। वहा इनसे रहित ही रहता है तथा फिर में पुनः इनका संयोग भी आत्मा से नहीं होता—यह नास्ति का विशेषण है।

(२) स्वरूपसमवस्थित —यह विशेषण अस्ति का है। वह यह वताता है कि जीव वहां ६ क्षायिक लब्धियों को प्राप्त है। आत्मा के अनन्त अनुजीवी गुणों की पूर्ण स्वभाव पर्याय प्रगट है। अनन्त चतुष्टय प्रगट है। स्वभाव मे पूर्ण स्थित है।

(३) निरूपघात —विशेषण यह वताता है कि जिस प्रकार ससार मे साता के सुख को असाता का उदय आकर नष्ट कर देता है, उस प्रकार अनन्तानन्त काल व्यतीत होने पर भी सिद्ध के स्वरूप मे वाधा नहीं आती। यह जीव फिर ससार मे नहीं आता। किसी प्रकार का उपसर्ग या वाधा नहीं होती। इस विशेषण मे वह भाव है जो श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार के सूत्र १३३ का है।

(४) गगन इव विशदतम —विशेषण अत्यन्त अमूर्तिकपने का द्योतक है। शरीरादि नोकर्म रहितता का वाचक हैं। सैद्धातिक दृष्टि से प्रतिजीवी गुणों की सम्पूर्ण स्वभाव पर्यायों का द्योतक हैं जो अघातिया कर्मों के नष्ट होने पर प्रगट होते हैं। आकाशवत् परवस्तु से निर्लेप हैं। इसमे यह भाव हैं जो श्रीपचास्तिकाय सूत्र ३५ का हैं।

(५) परमपुरुष —विशेष्य है। पुरुष साधारण व्यक्ति को कहते हैं। मध्यम पुरुष धर्मात्माओं को (अन्तरात्मा को) कहते हैं और परमपुरुष परमात्मा को कहते हैं। परमपुरुष पद यह वताता है कि फिर उनको पुरुष नहीं किन्तु परम पुरुष कहते हैं।

(६) परमपदे—परम पद का भाव है सर्वोत्कृष्ट स्थान। इन्द्र, अहमेन्द्र, चक्रवर्ती आदि के स्थान उत्तम स्थान नहीं है। वे तो आकुलतामय तथा नाशवान हैं। उत्कृष्टपद तो एक मोक्ष है। आत्मा की पूर्ण दशा है।

(७) स्फुरति—का भाव है कि उस पद मे हो आत्मा की शोभा है।

वहाँ आत्मा सुन्दर लगता है। जैसे लोक मे राजा उच्च स्थान पर अच्छा लगता है इसी प्रकार आत्मा की शोभा अपने परमपद मे है। त्रिलोक का शिरोमणि–त्रिलोक का पूज्य, परक्षेत्र की अपेक्षा भी लोक के अग्र भाग मे स्थित रहना उनके परम पद का सूचक है। वे त्रैलोक्य गुरु हैं।

आगे एक सूत्र मे और उसी की महिमा को वर्णन करते हैं।

कृत्कृत्य परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥२२४॥

अन्वय—कृत्कृत्य, सकलविषयविषयात्मा, परमानन्दनिमग्न ज्ञानमय परमात्मा परमपदे सदैव नन्दति।

सूत्रार्थ—कृत्कृत्य, समस्त पदार्थ हैं विषयभूत जिनके अर्थात् सब पदार्थों के ज्ञाता द्रष्टा, अतीन्द्रिय सुख मे लीन, ज्ञानमय, परमात्मा, परमपद मे निरन्तर आनन्द रूप स्थित है।

(८) कृत्कृत्य—यह जीव मोक्ष प्राप्त करके कृत्कृत्य हो जाता है अर्थात् जो कुछ करना था–वह कर चुकता है। सामान्य मे जितना स्वभाव भर था वह सब पुरुषार्थ द्वारा विशेष (पर्याय में) प्रगट कर लेता है। और बचा ही कुछ नहीं जिसे प्रगट करना शेष हो। पुरुषार्थ की पूर्ण समाप्ति कर चुकता है और साध्य रूप हो जाता है।

(९) सकलविषयविषयात्मा—का भाव है कि तीन काल और तीन लोक के सम्पूर्ण स्व पर ज्ञेयों का एक समय मे जानने वाला ज्ञाता द्रष्टा हो जाता है। यह सर्वज्ञता का द्योतक है।

(१०) परमानन्दनिमग्न—परमानन्द अतीन्द्रिय सुख को कहते हैं और निमग्न लीन को कहते हैं। जिनका ऐसा भाव है कि एन्द्रिय सुख ही सुख है, उनसे कहते हैं कि मोक्षसुख–एन्द्रिय सुख दुःख से रहित

है। वहा परम आनन्द है अर्थात् उत्कृष्ट आह्लाद स्वरूप अतीन्द्रिय आत्मिक सुख है। जिसमे वे मग्न रहते हैं।

(११) ज्ञानमय.—का भाव यह है कि वहा आत्मा राग द्वेष मोह रूप कर्म चेतना से रहित है। मात्र ज्ञान का डला है जैसे बरफ का डला केवल बरफ रूप होता है। सरदी का जमा हुआ घी केवल घी का डला होता है। इस प्रकार वहा आत्मा ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान रूप ही होती है।

(१२) परमात्मा परमपदे सदैव नन्दति—आत्मा से परमात्मा बन जाता है और सदैव अर्थात् अमर्यादित समय तक स्वरूप का सुख भोगता है। बहुत से जीवों को ऐसा भ्रम होता है कि यह जीव मोक्ष मे कुछ तो करता होगा? तो कहते हैं कि 'हा' क्रियारहित वस्तु कभी नहीं होती। पर का कर्ता तो यहा भी नहीं था। यहा राग का कर्त्ता भोक्ता था—वहां स्वरूप मे सदा सुख भोगता है। अपने अनन्तगुणों की समय २ स्वभाव पर्याय को प्रगट करके उसके भोग का आनन्द लेता है। बस केवल यही एक क्रिया वहां रहती है। और सब क्रियायें नष्ट हो जाती हैं। अतीन्द्रिय सुख के भोग का नाम ही मोक्षतत्त्व है।

[इन दो सूत्रों का भाव और श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार के सूत्र १३१ से १३४ का भाव करीब २ एक जैसा ही है]।

उपाय और उपेय तत्व की सन्धि

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनीनीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥२२५॥

अन्वय—मन्थाननेत्र गोपी इव जैनीनीति वस्तुतत्त्व एकेन आकर्षन्ती, इतरेण श्लथयन्ती, अन्तेन जयति।

सूत्रार्थ—मथानी की रस्सी को बिलोनेवाली ग्वालिनी की तरह जिनेन्द्रदेव की (निश्चय व्यवहार रूप) नीति (नय पद्धति) वस्तुत्व को एक नय से खींचती है, दूसरी नय से ढीली करती है और अन्त से जय पाती है।

भावार्थ—इस सूत्र द्वारा आचार्यदेव ने चौथे से सिद्ध तक की सम्पूर्ण दशा का दिग्दर्शन कराया है कि जीव पूर्वसूत्र २२३–२२४ मे वर्णित उपेय तत्त्व को किस प्रकार प्राप्त करता है तो कहते हैं कि व्यवहार निश्चय की परस्पर मुख्य गौण सापेक्षता द्वारा साध्य दशा को पा लेता है। व्यवहार मार्ग से वस्तु को जानता है–निश्चय से श्रद्धान करता है। व्यवहार धर्म को पालता है किन्तु निश्चय में स्थिरता बढाता रहता है। अशुभ से बचने के लिये शुभ में रहता है पर वास्तव मे ज्ञान चेतना का निर्माण करता रहता है। इस प्रकार चौथे से ही व्यवहार निश्चय की सधिपूर्वक मार्ग की साधना करता २ अन्त मे अपने उपेय तत्त्व को प्राप्त करके विजय को प्राप्त होता है अर्थात् सिद्ध हो जाता है। इस सूत्र में उपाय तत्त्व और उपेय तत्त्व दोनों का किस प्रकार मेल हैं वह दिखलाया हैं।

पहले २० सूत्रों तक भूमिका का निरूपण किया था। फिर २१ से २२२ तक उपाय तत्त्व का निरूपण किया। फिर सूत्र २२३–२२४ मे उपेय तत्त्व बतलाया और इस सूत्र मे यह कहा कि इस प्रकार व्यवहार निश्चय की सापेक्षता द्वारा उपाय करता हुआ पुरुष उपेय तत्त्व को प्राप्त हो जाता है अर्थात् सिद्ध हो जाता है और विजय पाता है अर्थात् अनन्त काल तक अतीन्द्रिय सुख का भोग करता है। जय हो अनेकान्तात्मक जैनमार्ग की जो आगम का प्राण है। यहा आकर आचार्य महाराज ने उसी अनेकान्त को पुन याद किया है जिसका स्तवन प्रारम्भ मे ही सूत्र न० २ मे किया था।

उपाय उपेय तत्त्व पर प्रश्नोत्तर प्रमाण सूत्र स०

प्रश्न ११९—उपाय तत्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर—चौथे से बारहवें गुणस्थान की मुख्योचार अर्थात् निश्चय व्यवहार रत्नत्रय मिश्रित पर्याय को उपाय तत्त्व कहते हैं। जो तेरहवें गुणस्थान मे होने वाले उपेय तत्त्व का कारण है। साक्षात् तो बारहवें गुणस्थान की पर्याय कारण है। परम्परा एक दूसरे को क्रमश कारण हैं। (२२२)

प्रश्न १२०—मोक्षप्राप्त जीव का स्वरूप बताओ ?

उत्तर—जो द्रव्यकर्म—भावकर्म—नोकर्म रहित है अर्थात् आकाशवत् परवस्तु के सम्बन्ध रहित अमूर्तिक है। मात्र शुद्ध जीवास्तिकाय के प्रदेशमात्र है जिन प्रदेशों में अनन्त अनुजीवीगुणों की स्वभाव पर्याय अर्थात् अनन्त चतुष्टय प्रगट हो गया है तथा अनन्त प्रतिजीवी धर्म भी विद्यमान हैं। किसी प्रकार की बाधा आघात या स्वरूप पतन कभी नहीं है। कर्मचेतना और कर्मफल चेतन से सर्वथा रहित मात्र ज्ञान रूप कृतकृत्य हैं। सम्पूर्ण ज्ञेयों के जानने वाले होने से सर्वज्ञ हैं तथा सदैव अतीन्द्रियसुख मे मग्न रहते हुवे उसी का भोग किया करते हैं। (२२३–२२४)

प्रश्न १२१—उपाय और उपेय तत्त्व की सधि किस प्रकार है ?

उत्तर—साधक जीव निश्चय की मुख्यता करके उसमें स्थित होता जाता है और व्यवहार की गौणता करके उसे काटता जाता है। इस प्रकार एक दिन निश्चय मे पूर्ण स्थिरता करके स्वरूप को पा लेता है अर्थात् सिद्ध हो जाता है। (२२५)

ग्रंथ समाप्ति

वर्णै कृतानि चित्रै पदानि तु पदै. कृतानि वाक्यानि ।
वाक्यै कृत पवित्र शास्त्रमिद न पुनरस्माभि ॥२२६॥

अन्वय —चित्रैं वर्णैं. पदानि कृतानि । पदैं. वाक्यानि कृतानि । वाक्यैं पुन इद पवित्र शास्त्र कृत । अस्माभि न ।

सूत्रार्थ—नाना प्रकार के अक्षरों ने पद बनाये । पदों ने वाक्य बनाये और उन वाक्यों ने यह पवित्र शास्त्र बनाया । हमारे द्वारा (श्री अमृतचन्द आचार्य द्वारा) नहीं बनाया गया । [स्वरूप में रमने वाले कहीं पर के कर्त्ता नहीं होते-ज्ञाता ही रहते हैं-ऐसा आचार्यदेव का भाव है । कर्मचेतना के स्वामित्वपने का नाश करके ज्ञान चेतना का स्वामी अपने को प्रगट किया है] ।

भावार्थ—एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता नहीं हो सकता–इस सिद्धान्तानुसार आचार्य देव ने स्पष्ट रूप से बतलाया है कि जीव जड शास्त्र को नहीं बना सकता । श्री समयसार की टीका, श्रीप्रवचनसार की टीका, श्री पचास्तिकाय की टीका तथा श्री तत्त्वार्थसार शास्त्र के कर्तृत्व के सम्बन्ध में भी आचार्य भगवान् श्री अमृतचन्द्र सूरी ने बतलाया है कि इस शास्त्र का कर्त्ता पुद्गलद्रव्य है । मैं (आचार्य का जीव) नहीं । यह बात तत्त्व जिज्ञासुओ को खास ध्यान में रखने की जरूरत है । अत' श्री पुरुषार्थसिद्‌ध्युपाय पूर्ण करने पर भी स्पष्टरूप से बतलाया है । इसलिये पहले भेद विज्ञान प्राप्त कर यह निश्चय करना चाहिये कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता; यह निश्चय करने पर जीव के स्व की ओर ही झुकना रहता है । अब स्व की ओर झुकने में दो पहलू हैं । उनमे एक त्रिकाली चैतन्य स्वभावभाव जो पारिणामिक भाव कहा जाता है–वह है । और दूसरा स्व की वर्तमान पर्याय । पर्याय पर लक्ष करने से विकल्प (राग) दूर नहीं होता । इसलिये त्रिकाली चैतन्य स्वभाव की ओर झुकने के लिये सर्व वीतरागी शास्त्रों की और श्री गुरुवों की आज्ञा है । अत' उसकी ओर झुकना और अपनी शुद्धता प्रगट करना यही जीव का कर्त्तव्य है । इसलिये तदनुसार ही सर्व जीवो को पुरुषार्थ करना चाहिये । उस शुद्ध दशा को ही मोक्ष

कहते हैं। मोक्ष का अर्थ निज शुद्धता की पूर्णता अथवा सर्व समाधान है और वही अविनाशी और शाश्वत–सच्चा सुख है।

जीव प्रत्येक समय सच्चा शाश्वत सुख प्राप्त करना चाहता है। और अपने ज्ञान के अनुसार प्रवृत्ति भी करता है। किन्तु उसे मोक्ष के सच्चे उपाय की खबर नहीं है। इसलिये दुःख (बन्धन) के उपाय को सुख का (मोक्ष का) उपाय मानता है। अतः विपरीत उपाय प्रति समय किया करता है। इस विपरीत उपाय से पीछे हट कर सच्चे उपाय की ओर पात्र जीव झुकें–और सम्पूर्ण शुद्धता प्रगट करें। यही इस शास्त्र का हेतु है।

परम कृपालु सद्गुरु देव की जय !

हिन्दी टीकाकार

वर्णों से पद, पद से वाक्य, और वाक्य से टीका बनी।
हम तो रमते रूप मे हमने नही इसको रची ॥